'श्री पं० दिलीपदत्त शर्मा उपाध्याय'

[संक्षिप्त जीवन परिचय]

— लेखक —

श्री देवेन्द्र विज्ञानी

श्री पं० दिलीपदत्त शर्मा उपाध्याय

[संक्षिप्त जीवन-चरित]
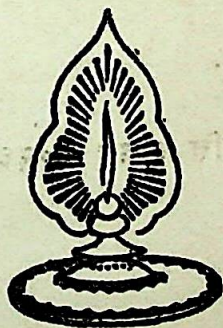
— लेखक —

श्री देवेन्द्र विज्ञानी

प्रकाशक—
गङ्गाप्रसाद गुप्त,
ग्राम—कसूमी, पो०—सोई
(जि० बुलन्दशहर) उ०प्र०

प्रथमावृत्ति सम्वत् २०२६ विक्रमी

मुद्रक—
विज्ञान प्रेस,
ऋषिकेश (जि० देहरादून) उ०प्र०

No. 1332 श्री अम्बाजी नं० २ S.B.B.

प्रकाशकीय

बुलन्दशहर मण्डलान्तर्गत एक छोटे से ग्राम कसूमी के अल्प-शिक्षित ग्रामीण परिवार में जन्म लेकर भी मैं इतने महान् धुरन्धर विद्वान् सद्गुरु ब्रह्मलीन श्री उपाध्याय जी की अक्षुण्ण कृपा एवं स्नेह प्राप्त कर सका, यह मेरे किन्हीं पूर्वकृत पुण्यों एवं ईश्वर-कृपा का ही परिणाम था,– अपने पुरुषार्थ के बल पर तो इस जीवन में ऐसा सौभाग्य प्राप्त कर पाना शायद संभव ही न हो पाता।

वनवारीपुर निवासी श्री आनन्दस्वरूप शर्मा धार राज्य (म० प्र०) में वन्दोबस्त के महकमे में अधिकारी थे। उन्हीं की कृपा से मैं भी धार राज्य के वन्दोवस्त महकमे में कर्मचारी हो गया। श्री शर्मा जी का पूरा परिवार धार्मिक प्रवृत्ति एवं दैवी सम्पद सम्पन्न था। उनके घर हवन, गीता और रामायण-पाठ नित्य नियम से होता था। इसी परिवार के सत्सङ्ग से मुझमें भी धार्मिक संस्कारों की जागृति हुई, आध्यात्मिकता की ओर मेरी प्रवृत्ति हुई तथा भगवद्प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हुई। फलतः मैं भी प्रातः उठकर, स्नानादि से निवृत्त होकर नित्य नियम से रामायण–पाठ एवं मन्त्र-जप आदि करने लगा। यहीं से मेरे आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ हुआ।

सन् १६३१ ई० में सेवा-मुक्त कर दिये जाने के कारण मैं अपने गाँव चला आया। कोई सेवा-कार्य (नौकरी) मिलने की चिन्ता तो हर समय बराबर बनी रहती थी, परन्तु आध्यात्मिक रुचि में इससे कोई कमी नहीं आई। मन्त्र-जप, रामायण-पाठ स्वाध्याय आदि बराबर चलता रहता था। ईश्वर-कृपा एवं गङ्गागढ़ निवासी श्रीमान् लाला रेवती प्रसाद जी (पटवारी ग्राम कमौना) की सहायता से सन् १६३३ ई० में अपने गांव के पास ही एक छोटी-सी रियासत त्यौरी में नवाब की कारिन्दागीरी पर मेरी नियुक्ति हो गई। नवाब साहब त्यौरी श्री अब्दुल बासत अली खां साहब स्वयं भी बहुत ही नेक और धार्मिक प्रवृत्ति के थे, अतः मुझे भी भजन-साधन के लिए विशेष सुविधायें प्राप्त हुई। एकान्त में एक मकान अकेले रहने को मिल गया था। प्रातः ६-१० बजे तक तथा सायं ४-५ बजे बाद भजन पूजा-पाठ के लिए पूरा-पूरा समय मिल जाता था। गीता प्रेस से कल्याण तथा अन्य धार्मिक पुस्तकें मँगाकर खूब स्वाध्याय चलता था। गर्मियों में १५-२० दिन के लिए गीता-भवन, ऋषिकेश, में निवास एवं सत्सङ्ग-लाभ की सुविधा भी हर वर्ष प्राप्त हो जाती थी। इसी प्रकार यथासाध्य साधन-क्रम चलता रहा।

सन् १६४५ में कारिन्दागीरी के किसी कार्यवश मुझे त्यौरी के समीप नगला रणजीतसिंह जाना पड़ा। वहां प्रसङ्गवशात् श्री जगपालसिंह जी से कुछ साधन-चर्चा चल पड़ी। उन्होंने श्रेष्ठतम आध्यात्मिक साधन 'शक्ति-पात दीक्षा' की प्राप्ति के लिए अपने अनुज श्री देवेन्द्र विज्ञानी से मेरा परिचय कराया। श्री देवेन्द्र विज्ञानी ने मुझे 'महायोग-विज्ञान' पुस्तक पढ़ने को दी।

प्रतिवर्ष गर्मियों में मैं गीता-भवन (स्वर्गाश्रम—ऋषिकेश) में सत्सङ्गार्थ महीने-बीस दिन निवास किया करता था। एक वर्ष

ऋषिकेश रेलवे स्टेशन पर अचानक ही श्री देवेन्द्र विज्ञानी से भेंट हो गई। उन्होंने अपने गुरुदेव शक्तिपात–आचार्य १००८ श्री योगेन्द्रविज्ञानी का परिचय दिया। परन्तु उनका शिष्यत्व स्वीकार करने में अपने को अयोग्य तथा असमर्थ समझकर मैंने किसी अन्य समर्थ गुरु का परिचय पाने की इच्छा प्रकट की। तब श्री देवेन्द्र विज्ञानी ने ब्रह्मलीन १००८ सद्गुरुदेव श्री दिलीपदत्तशर्मा उपाध्याय जी का परिचय दिया और उनसे मिलाकर उनका कृपा-प्रसाद (शक्तिपात दीक्षा) दिलाने का आश्वासन दिया। अपने वचनानुसार उन्होंने मुझे सद्गुरुदेव श्री उपाध्याय जी से मिलाकर उनसे मेरा परिचय करा दिया। इसके बाद जब भी मुझे अवकाश मिलता, मैं उनके दर्शनार्थ खेरली पहुँच जाता तथा उनके सत्सङ्ग का लाभ प्राप्त करता।

श्री उपाध्याय जी के सौम्य, निर्मल, अत्यन्त सादा परन्तु विवेक-शास्त्रज्ञान-आप्लावित जीवन को देखकर उनके श्री चरणों में मेरी श्रद्धा-निष्ठा अधिकाधिक बढ़ती ही गई और मुझे अपने में पर्याप्त परिवर्तन भी अनुभव होने लगा। श्री देवेन्द्र विज्ञानी के निर्देशानुसार जब मुझे लक्षणों से यह निश्चय हो गया कि यही मेरे लिए कल्याणकारी उपयुक्त सद्गुरुदेव हैं, तब मैंने उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना करने का निश्चय किया। अन्तर्यामी सद्गुरुदेव ने मेरी इच्छा जानकर ही इसकी स्वीकृति दे दी। पूर्व निश्चित् समय पर सन् १९४७ में उन्होंने मेरे ऊपर (शक्तिपात-दीक्षा देने का) अनुग्रह किया।

गृहस्थ होते हुए भी श्री गुरुदेव नितान्त निस्पृह थे। धन के प्रति उनकी रञ्च मात्र भी आसक्ति नहीं थी। उनकी मान्यता थी कि धन मनुष्य को अधर्म एवं भोगासक्ति की ओर प्रेरित करता है और यही कारण था कि आजीवन निर्धनता से जूझते

रहने पर भी उन्होंने कभी धन-प्राप्ति की इच्छा तक नहीं की। उनकी कष्ट-सहिष्णुता आश्चर्यजनक थी। महान् से महान् आपत्ति में भी मैंने कभी उनको म्लान होते नहीं देखा. वरन् उनका मुख-मण्डल सदैव फूल की भाँति खिला हो रहता था। वे प्रायः कहा करते थे --'प्रत्येक सुख हमारे पुण्य का तथा कष्ट हमारे पाप का प्रतिफल है। अतएव प्रत्येक कष्ट-भोग के साथ हमारे पाप का क्षय होता है। इस प्रकार कष्ट आना तो हमारे लिए श्रेयस्कर ही है। इनके आने से तो हमें प्रसन्न होना चाहिये कि हमारे पापों का क्षय होकर हम निर्मल हो रहे हैं।'

श्री गुरुदेव का कृपा-लाभ करने के बाद से मैं बराबर ही उनके घनिष्ट सम्पर्क में रहा, परन्तु मेरी मन्द बुद्धि सदैव उनकी भौतिक विडम्बनाओं के यथासाध्य समाधान में ही उलझी रही। अपनी घोर भौतिक प्रवृत्ति-प्रकृति के वशीभूत हुआ मैं कभी उनके विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप की झाँकी नहीं पा सका। उनके आत्मिक उत्कर्ष का तो अनुमान भी मेरे लिए कभी संभव नहीं हुआ।

श्री गुरुदेव सरीखी मर्यादा पुरुषोत्तम विभूतियाँ भूमण्डल पर विरल ही अवतरित होती हैं। उनकी आत्मनिष्ठ जीवनचर्या ने कितनों के कलुष धोकर उन्हें लाभान्वित किया, यह समझ पाना कठिन है तथापि जो भी उनके अन्तस् को छू सका वही अवश्यमेव लाभान्वित हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं। ईश्वर से प्रार्थना है कि सद्गुरुदेव सरीखे ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षियों का अवतरण इस देश को पुनः आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष पर अवस्थित करे तथा श्री गुरुदेव का कृपा-प्रसाद सदा-सर्वदा हमारी बुद्धियों को ज्ञाना-लोक से प्रकाशित करता रहे।

अन्त में मैं श्री देवेन्द्र जी विज्ञानी के प्रति आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त जीवन होते हुए भी इस जीवनी को लिखने का उत्तरदायित्व लेकर मेरे निवेदन को स्वीकार किया। उनके सहयोग के विना यह कार्य असम्भव-प्राय: प्रतीत हो रहा था। श्री उपाध्याय जी के निकट सम्पर्क में रहे होने के कारण आप ही इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति भी थे। इसके अतिरिक्त मैं डा० मङ्गलदेव शास्त्री, श्री मोहन स्वामी, वैद्य विष्णुदत्त जी, श्रीमती परम प्यारी मलहोत्रा को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने श्री उपाध्याय जी की जीवन-सम्बन्धी जानकारी देकर मेरी सहायता की।

मैं श्रीमती ठानोदेवी धर्मपत्नी लाला श्यामलाल जी, श्याम-नगर मण्डी, (जिला बुलन्दशहर, उ० प्र०), श्री जगपालसिंह जी तथा संचालक 'दयानंद', संन्यास आश्रम, देवास (म० प्र०) का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस जीवनी के लिए कागज उपलब्ध कराकर एवं आंशिक मुद्रण-व्यय आदि वहन कर मेरी आर्थिक कठिनाई का निराकरण किया है।

अन्त में भगवान् से प्रार्थना है कि यह संक्षिप्त जीवन-चरित पाठकों को प्रेरणाप्रद सिद्ध होकर जीवनोत्थान में लाभदायक हो।

गुरुपूर्णिमा, —गङ्गाप्रसाद गुप्त
संवत् २०२५ विक्रमी।
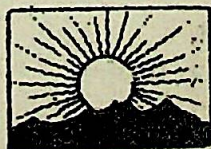
लेखकीय

आत्म-ज्ञान का पथ प्रशस्त करने वाले गुरुजन दुर्लभ दिव्य रत्नों के समान प्रायः संसार के लिए अज्ञात ही बने रहते हैं। वे नहीं चाहते कि भौतिक रत्नों की तरह ही कोई जोहरी वणिक अपनी दुकान में सजाकर उनके भौतिक या आध्यात्मिक स्वरूप का भी व्यापार करे। यही कारण है कि वे अपने जीवन-क्रम को विषद प्रकाश में नहीं आने देते। उनके जीवन के अनेकों प्रेरणाप्रद शुक्ल प्रसंग अज्ञात तो रह ही जाते हैं, साथ ही क्रमबद्धता भी भंग हो जाती है। यह बात हमारे चरित्र-नायक श्री उपाध्याय जी पर तो सवा सोलह आने घटती है। प्रायः यही त्रुटि गुरुजनों की जीवनी लिखने वाले लेखकों के सामने प्रश्न चिन्ह बनी खड़ी रहती है।

अक्षरशः सत्य होने पर भी श्री उपाध्याय जी के जीवन-प्रसंगों की क्रमबद्धता में व्यतिक्रम संभव है क्योंकि वे इस विषय में इतने उदासीन थे कि पूछने पर भी किसी को कुछ विशेष बताते नहीं थे। इसे उनकी उदासीनता अथवा आत्म-चिन्तन की पराकाष्टा ही समझिये। वे प्रायः योगनिद्रा में सोये तथा इहलोक से खोये से ही रहते थे। यही कारण है कि इस जीवनी में घटना-क्रम की अपेक्षा लेखक के भावोद्गार ही छाये-से प्रतीत होते हैं। इस से प्रेरणा पाकर साधक लाभान्वित हों, एक मात्र यही लेखक का अभीष्ट है। इति ॐ

ऋषिकेश, — देवेन्द्र विज्ञानी

गुरुपूर्णिमा, संवत् २०२५ विक्रमी।

हमारे चरित-नायक : ७० वर्ष की आयु में

ब्रह्मलीन श्री १०८ श्री दिलीपदत्तशर्मा उपाध्याय
अपनी सहज स्वाभाविक वेषभूषा में

जिनके स्मरण मात्र से भक्त में—

* कीर्ति, कांचन, कामिनी शूकरी-विष्ठावत् भासने लगते हैं,
* डगमगाती हुई श्रद्धा एवं निष्ठा स्थिर हो जाती हैं,
* दैवी-सम्पद् का आविर्भाव होने लगता है,
* आत्मानुरक्ति को प्रबल प्रोत्साहन मिलता है,

एवं

* मुमुक्षुत्व की अचल प्रतिष्ठा हो जाती है,

उन्हीं शिवरूप श्री सद्गुरुदेव के चरण-कमलों में

सादर समर्पित !

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये !'

—लेखक

भूमिका

श्री श्री नारायणतीर्थ देवजी महाराज की शिष्य-परम्परा में हुये महात्माओं की जीवन-सम्बन्धी जानकारी को खोजकर पाठकों तक पहुँचाने के उद्देश्य-क्रम में श्री पं० दिलीपदत्त जी शर्मा 'उपाध्याय' का संक्षिप्त जीवन-चरित प्रकाशित होते हुए देखकर हमें अपार हर्ष हो रहा है।

आधुनिक भारत अपनी प्राचीन विचारधारा एवं आदर्श-जीवन-विकास-शैली को बहुत कुछ भूल बैठा है, परन्तु फिर भी देश ऐसे महापुरुषों से कभी सर्वथा रिक्त नहीं होता। पाश्चात्य जीवन विकास में जहाँ बाह्य विस्तार की ओर अधिक बल दिया जाता है, वहाँ हम आन्तरिक उन्नति को प्रमुखता प्रदान कर तथा दैवी सद्गुणों को धारण कर के भी बाह्य प्रसिद्धि से बचते चले आए हैं। प्राचीन ऋषिकालीन अनेकों ग्रंथ ऐसे मिलते हैं जिन पर लेखकों ने अपना नाम तक देने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। प्राचीन महापुरुषों की जीवन-सम्बन्धी ज्ञातव्य जानकारी की अनुपलब्धि का भी यही कारण रहा है। इसी हेतु भारत आज भी अपनी आत्मा,—प्राचीन आध्यात्मिक जीवन शैली,—को अक्षुण्ण रखे हुए है। देश कैसी भी बाह्य परिस्थितियों में से गुजरता रहा हो, किन्तु आन्तरिक विचारधारा अप्रकट रूप में सदैव ही सतत् प्रवाहित रही है। परिणामतः देश में महात्माओं का उदयक्रम निरन्तर बना रहा जो अभी तक अखण्डित चला आ रहा है।

एक ऐसे ही महापुरुष की संक्षिप्त जीवनी से पाठकों को परिचित कराने में हम गर्व का अनुभव करते हैं जो गृहस्थ होकर भी संन्यासियों से भी कहीं अधिक त्यागी थे, प्रकांड विद्वान् होकर भी अत्यन्त सामान्य मनुष्य की भांति सरल एवं निरभिमानी थे, जिन्होंने जीवन में पग-पग पर अभाव का अनुभव किया, किन्तु कभी किसी से याचना नहीं की। अनेकों गुणों का स्वामी होते हुए भी जिन्होंने अपनी विभूतियों को अव्यक्त रखना ही अपना कर्त्तव्य समझा तथा सदैव ही लोकेषणा से अछूते रहे। आप ने कलियुग के मायावी तथा स्वार्थपूर्ण वातावरण में रहकर भी ऋषिकालीन आदर्श जीवन व्यतीत किया।

श्री उपाध्याय जी आशुकवि थे। चलते-फिरते चाहे जिस विषय पर संस्कृत भाषा में सुन्दर कविता लिख डालते थे। सादगी और सरलता की तो आप साक्षात् प्रतिमा थे।

आदर्श शिष्य :—

आप एक आदर्श शिष्य थे। आप के शिष्यत्व-भाव की विशेषता यह थी कि आपने अपने गुरुदेव श्रीश्री योगानन्द जी महाराज से पारमार्थिक लाभ के अतिरिक्त कभी कोई आशा नहीं की। अत्यन्त कठिन आर्थिक कठिनाइयों में भी अपना कष्ट कभी गुरुदेव के सामने प्रकट नहीं किया। जब कभी भी आप गुरुदेव के दर्शन करने गए, शान्त एवं प्रसन्न मुद्रा में केवल आध्यात्मिक एवं साधना सम्बन्धी चर्चा में ही रुचि प्रदर्शित की। श्री गुरुदेव कई बार स्वयं उनकी कठिनाइयों से विह्वल होकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते थे, तो भी आपने कभी कुछ स्वीकार नहीं किया।

आदर्श-गुरु :—

जब श्री योगानन्द जी महाराज ने आप को दीक्षा देने का अधिकार प्रदान करके गुरु-पदवी पर प्रतिष्ठित किया तो आप गुरु-रूप में भी

आदर्श ही सिद्ध हुए। आप अपने शिष्यों पर अहेतुकी कृपा करते थे, सदैव उनकी मंगल कामना करते थे, शिष्यों के दु:ख से स्वयं भी दु:खी हो उठते थे, किन्तु वदले में कभी किसी शिष्य से आर्थिक, शारीरिक अथवा अन्य किसी भी प्रकार की सेवा की अपेक्षा नहीं रखते थे।

कई वार कई लोगों ने आप से कहा भी,—'आपके शिष्यों में कई लोग काफी धनाढ्य हैं, आपकी आर्थिक स्थिति की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहिए।' किन्तु आपने सदैव यही उत्तर दिया,—'अरे भई, वड़े लोगों के खर्चे भी वड़े होते हैं। वे लोग किसी प्रकार अपना खर्चा चला रहे हैं। उनको कुछ मत कहना। हमारा क्या है? हमारा योग-क्षेम भगवान् ठीक निभा रहे हैं।' इस प्रकार आपने अपने गुरुदेव से तथा शिष्यों से केवल आध्यात्मिक-आत्मीय सम्बन्ध ही स्थापित रखा, जागतिक आवश्यकताओं और अभावों को कभी परस्पर के सम्बन्धों का आधार नहीं वनने दिया।

आदर्श-ब्राह्मण—

शास्त्रों का पठन-पाठन और त्यागवृत्ति ब्राह्मणों के आभूषण हैं। आपने जीवन भर अपने ब्राह्मणत्व को खूब निभाया। संस्कृत के तो आप प्रकाण्ड-विद्वान थे ही, उसी के पठन-पाठन में जीवन व्यतीत किया और कई संस्कृत ग्रन्थों की रचना की।

दीक्षा के पश्चात् आपको विचार आया कि अध्यापन कार्य द्वारा विद्या का विक्रय करके धनोपार्जन करना ब्राह्मण का कर्तव्य नहीं। अत: आपने प्राचीन ऋषिकालीन पद्धति को अपनाकर नि:शुल्क संस्कृत भाषा का अध्यापन करने का निश्चय किया। यदि किसो ने अन्न, वस्त्र अथवा धन से कोई सेवा कर दी तो ठीक, अन्यथा आप किसी से कुछ भी अपेक्षा रखे विना ही वड़े प्रेम और उत्तरदायित्व से छात्रों को पढ़ाया करते थे।

आदर्श मानव—

आज के युग मे सामान्य स्वार्थ-परायण मनुष्य के लिए जिस व्यक्तित्व की कल्पना तक करना कठिन है, श्री उपाध्याय जी उस व्यक्तित्व के स्वामी थे। सादगी, सौम्यता, निरभिमानता, सरलता, निरलोभता और पारमार्थिक लाभ की उत्कट जिज्ञासा आपके स्वाभाविक गुण थे। इन सब पर विशेषता यह कि आप अपने गुणों की ख्याति से एकदम दूर रहना चाहते थे। यही कारण है कि बहुत कम लोग आपकी महानता को समझ सके। जो लोग आपके निकट सम्पर्क में आकर आपके दैवी गुणों से प्रभावित हुए, वही आपकी पारमार्थिक अन्तर्ज्वाला को पहिचान सके। सर्वसाधारण तो आपको संस्कृत का एक सामान्य अध्यापक मात्र मानकर ही रह गए।

श्री श्री योगानन्द जी महाराज ने आपके शरीर त्याग के पश्चात् आपके एक शिष्य को एक पत्र लिखा था, जिसमें आपके शास्त्रकथित सद्गुणों, त्याग, तपस्या, एकनिष्ठा भक्तिसम्पन्न उदारचित्तता आदि लक्षणों की ओर इंगित किया गया है। पूज्यपाद श्री विष्णुतीर्थ जी महाराज ने आपके प्रति अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

'मुझ से श्री दिलीपदत्त जी उपाध्याय से सम्बन्धित अपने संस्मरण लिखने का आग्रह किया गया है, जिससे उनकी पुरानी स्मृति जाग उठी है। यद्यपि मेरा उनका सम्पर्क अधिक तो नहीं रहा तो भी उनके व्यक्तित्व की छाप अब भी वैसी ही बनी हुई है।

'मैंने सन् १९३३ में श्री पूज्यपाद शक्तिपात दीक्षा गुरु श्री योगानन्द ब्रह्मचारी जी से दीक्षा ग्रहण की और सन् १९३४ के जनवरी या फरवरी में मेरे कनिष्ठ भ्राता मोहन स्वामी के घर श्री गुरु जी गाजियाबाद पधारे थे। तब उनके एक शिष्य श्री कृपा शंकर जी की प्रेरणा से उपाध्याय जी दीक्षा लेने की इच्छा से गुरु जी के दर्शनार्थ वहां आए थे। तभी मेरा-उनका प्रथम समागम हुआ।

'गाजियावाद और खुर्जा-जंकशन लाइन पर दनकौर रेलवे स्टेशन है। स्टेशन के पास निकटस्थ वस्ती खेरली हाफिजपुर में उनका निवास स्थान है। लाइन के पश्चिम की ओर थोड़ी दूर पर एक गुरुकुल है जिसमें उपाध्याय जी संस्कृत के अध्यापक थे। सम्भवतः उन्हें ५०) रुपये मासिक वेतन मिलता था। गुरु जी ने उन्हें दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी और एक मुहूर्त निश्चित् कर दिया, परन्तु किसी विशेष कार्यवश उस मुहूर्त पर ऋषिकेश न आ सके। वाद में ज्ञात हुआ कि उन्हें अपने घर पर ही निश्चित् समय पर दीक्षा हो गई थी। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उपाध्याय जी का सरल सात्विक जीवन पहले से ही आध्यात्मिक था, उनकी भूमिका तैयार थी जिससे गुरु जी का संकल्प कार्य कर गया।

'आध्यात्मिक अग्नि के तीव्र प्रज्वलित वेग के प्रभाव ने उपाध्याय जी के जीवन में समूल परिवर्तन ला दिया। उन्होंने सोचा कि वेतन लेकर पढ़ाना विद्या का विक्रय है, विद्या-दान नहीं। अतः उन्होंने तुरन्त गुरुकुल की नौकरी छोड़ दी। आप वड़े लोकप्रिय थे। गुरुकुल के संचालकों, अन्य शिक्षकों और छात्रों के लिए उपाध्याय जी का निवृत्त हो जाना असह्य आघात था। सवने उनसे पुनर्विचार की प्रार्थना की, परन्तु उपाध्याय जी आजीवन अपने संकल्प पर अडिग रहे। जो विद्यार्थी उनके पास पढ़ने आते रहे, उन्हें वे निःशुल्क सप्रेम पढ़ाते थे।

'उपाध्याय जी गृहस्थी थे और कुटुम्ब निर्वाहार्थ ५०) रुपये वेतन के अतिरिक्त अन्य साधन भी कुछ न था। यह नौकरी भी उन्होंने छोड़ दी थी। यह देखकर उनके एक भक्त लाला श्यामलाल जी ने पचास वीघे (कच्चा) भूमि नाम मात्र अत्यल्प मूल्य लेकर आपको अर्पण कर दी और उसी के आधार पर उपाध्याय जी का सन्तोष पूर्वक आजीवन निर्वाह हुआ। यह एक ही घटना उपाध्याय जी के महान् आदर्श चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। उनके जैसा

निरभिमान, सरल, सन्तोषी, विद्याप्रेमी, परोपकारी स्वभाव क्वचित ही देखने में आता है।

'पहले आप आर्यसमाजी विचार के थे, परन्तु दीक्षोपरान्त उनके विचारों में इतना परिवर्तन आया कि सनातन धर्म के सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास एवं निष्ठा रखने लगे। उनके लौकिक व्यवहार में अनन्य गुरुभक्ति का उच्च स्थान था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आपको उच्चकोटि के सन्तों में स्थान दिया जा सकता है, परन्तु वे एक गुप्त संत थे। उनमें महात्माओं के सभी सद्गुण विद्यमान थे। मैं उनको अर्वाचीन युग का एक ब्रह्मर्षि मानता हूँ।'

अन्त में भगवान् से प्रार्थना है कि यह संक्षिप्त जीवन-चरित पाठकों को प्रेरणाप्रद सिद्ध होकर जीवनोत्थान में लाभदायक हो।

—स्वामी शिवोम् तीर्थ

जीवन-चरित्र

●

[१]

भारतवर्ष में हेमन्त, शरद, शिशिर एवं वसन्त ऋतुएं आध्यात्मिक साधन के लिए अधिक उपयुक्त एवं अनुकूल मानी जाती हैं। यही कारण है कि प्रायः इन्हीं ऋतुओं में यहां के आध्यात्मिक गुरु अपने भक्त शिष्यों के कल्याणार्थं भ्रमण करते एवं साधकों को यथायोग्य मार्ग-दर्शन, सहायता, प्रेरणा आदि देते हैं।

सम्वत् १९९१ के शिशिर एवं वसन्त की सन्धि में नगर के एक सुरम्य उपवन-सरीखे निवास-स्थान में उत्तराखण्ड के एक सुप्रसिद्ध तपस्वी महात्मा जी विराजमान थे। महात्मा का गौरवर्ण तेजस्वी वर्चस्व तप्त कांचनवत् सुशोभित था। दिव्य आभापूर्ण ललाट, तपःपूत शक्ति-भावापन्न प्रदीप्त विशाल नेत्राम्बुजद्वय एवं शिवभावापन्न क्रिया-कलाप दर्शनार्थियों को चरणों में लिपट जाने के लिए आकर्षित कर रहे थे। दर्शनार्थियों के आवागमन का तांता लगा हुआ था। पात्रता के अनुसार सभी लाभान्वित होकर जाते थे। महात्मा जी की वेधक दृष्टि निमिष मात्र में ही दर्शनार्थी के हृदय-पटल पर अङ्कित प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष भावों को पढ़ लेने की सुअभ्यस्त जान पड़ती थी। वाणी में तो मानों सरस्वती का निवास ही था।

एक सुहावनी वेला में एक ग्रामीण परिधानधारी कृशकाय व्यक्ति ने महात्मा के आसन-कक्ष में प्रवेश किया। आगन्तुक की वेश-भूषा तो

विल्कुल मादा, अल्पशिक्षितों जैसी थी, परन्तु किंचित् श्यामवर्ण चेहरे से आभास होता था मानों वे अपने अन्तः में किसी अक्षय देवोपम निधि को संजोये, संभाले हों। सरल भाव से प्रणाम करने के पश्चात् महात्मा के संकेत पर वे एक ओर विराज गये। पूछने पर बड़े ही सहज-सरल एवं मृदु-मर्यादित शब्दों में उन्होंने अपना परिचय दिया और अनुग्रह की याचना की। महात्मा की वेधक दिव्य दृष्टि उनके चेहरे पर जमी थी। कान परिचय सुन रहे थे या नहीं, कौन जाने; परन्तु उनकी दृष्टि अवश्य ही आगन्तुक के जन्म-जन्मान्तर का अन्तः परिचय प्राप्त करती जान पड़ती थी।

आगन्तुक उत्कण्ठापूर्वक महात्मा जी के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे।

× × × ×

[२]

सन् १९३४ के प्रारम्भ की वात है। गुरुदेव श्री योगानन्द जी ब्रह्मचारी, आगरे से ऋषिकेश लौटते हुए, गाजियावाद में श्री मोहन स्वामी के निवास-स्थान पर विराजमान थे। गुरुदेव श्री योगानन्द ब्रह्मचारी शक्तिपात (वेध) दीक्षा के तत्कालीन सुप्रसिद्ध समर्थ आचार्य थे। अनेकों मुमुक्षु एवं जिज्ञासु भक्त शक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा से दर्शनार्थ उपस्थित एव अधिकारी-भेद से यथायोग्य लाभान्वित हो रहे थे। वहीं के एक नागरिक श्री कृपाशंकर शास्त्री वैद्य भी उसी समय श्री गुरुदेव से शक्तिपात दीक्षा ग्रहण कर उपकृत हुए थे।

दिल्ली-अलीगढ़ रेलवे लाइन पर एक दनकौर नामक रेलवे स्टेशन है। इस स्टेशन के सहारे ही एक ओर खेरली हाफिजपुर गाँव है तथा दूसरी ओर मण्डी श्यामनगर और संस्कृत गुरुकुल महाविद्यालय

सिकन्द्रावाद हैं। खेरली हाफिजपुर और गुरुकुल का अन्तर १ फ़र्लाङ्ग से भी कम है और दोनों के वीच से रेलवे लाइन जाती है। गुरुकुल सिकन्द्रावाद संस्कृत शिक्षा के साथ-साथ आर्यसमाजी विचारधाराओं का प्रसारक-प्रचारक केन्द्र भी है। इसी गुरुकुल के प्राथमिक विद्यार्थी तथा पश्चात् के प्रधानाचार्य श्री उपाध्याय जो खेरली हाफिजपुर में निवास करते थे जो गाजियावाद निवासी श्री कृपाशंकर जी शास्त्री के शिक्षा-गुरु थे और अपनी शिक्षण-संस्था गुरुकुल सिकन्द्राबाद के अनुरूप कट्टर आर्यसमाजी विचारधारा के थे।

शक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने के परिणामस्वरूप श्री कृपाशंकर शास्त्री को दिव्यानन्द एवं चमत्कारिक भावापन्न मानसिक परिवर्तन की अनुभूति हुई। हर्षातिरेक में अपने शिक्षा-गुरु को भी इसे सहज उपलब्ध कराने के विचार से श्री कृपाशंकर जी उनके पास हाफिजपुर खेरली पहुँचे और उनसे अपने दिव्यानुभवों का सविस्तार उल्लेख कर शक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा दी। यों तो श्री उपाध्याय जी की संस्कृत-भाषा सम्बन्धी विद्वत्ता सुप्रख्यात थी, ब्राह्मणोचित समस्त दैवी सम्पदा के भी वे धनी थे, वैदिक कर्मकाण्ड एवं उपासना में सर्वतोभावेन संलग्न थे, तथापि उनके अन्तस में किसी प्रकार का एक विचित्र अभाव सतत् अनुभवगम्य होता रहता था जिसे वे समझ और पकड़ ही नहीं पाते थे कि क्या है, कैसा है ? अपनी तत्कालीन पूजा-पद्धति से इस अभावानुभव का कोई निराकरण नहीं हो पा रहा था, अतः वे किसी अन्य उपयोगी साधना-पद्धति की खोज में भी थे।

कट्टर आर्यसमाजी विचारधारा के प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण उन्हें शक्तिपात दीक्षा एवं उसके सद्यः चमत्कारिक परिणामों पर भी सहसा विश्वास नहीं होता था। परन्तु— 'प्रत्यक्षे किम् प्रमाणम्', अपने ही विश्वास मात्र शिष्य श्री शास्त्री जी के अनुभव सामने प्रत्यक्ष थे। 'सम्भवतः सतत् खटकने वाले अज्ञात अभाव के निराकरण

का कोई निदान मिल ही जाय'—इसी विचार से आपने गाजियावाद पहुँच कर श्री गुरुदेव के दर्शन करने का निश्चय कर लिया।

निश्चित् समय पर आप गुरुदेव श्री योगानन्द ब्रह्मचारी के दर्शनार्थ गाजियावाद पहुँचे। गुरुदेव इनकी अद्वितीय विद्वत्ता, आर्जव, सत्यनिष्ठा एवं त्याग-तपोमय विशुद्ध शुक्लकर्ममय जीवन से प्रभावित हो उठे और दीक्षा देने की अनुमति दे दी। दीक्षा के लिए आपको एक निश्चित् तिथि पर श्री गुरुदेव के तत्कालीन निवास-स्थान स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पहुँचने का आदेश मिला और वहीं शक्तिपात दीक्षा देने का निर्णय दिया।

सद्मार्ग में और चाहे जो भाव-अभाव आते हों, परन्तु विघ्न-बाधाओं का प्रावल्य तो प्रायः ही देखने में आता है। तदनुसार किन्हीं अपरिहार्य कारणोंवश आप नियत तिथि पर गुरु-स्थान के लिए प्रस्थान न कर सके। इस कारण आपके चित्त में बड़ी ग्लानि एवं पश्चात्ताप हुआ। रात्रि भर इसी पश्चात्ताप में करवटें बदलते रहे और निद्रादेवी दूर पलायन करती रहीं।

सर्वव्यापी सर्वसमर्थ तत्वरूप श्री गुरुदेव से आपका यह पश्चात्ता-पजन्य कष्टानुभव भला कैसे छिपा रह सकता था? सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र गुरु तत्व भला कब, कहाँ, क्या नहीं कर सकता? पश्चात्ताप की अग्नि में सुलगते श्री उपाध्याय जी को रात्रि के तृतीय प्रहर में कुछ झपकी-सी लगी ही थी कि शरीर में खूब जोर का झटका लगा। आप सावधान होकर बैठने भी न पाये थे कि फिर दूसरा झटका और भी ज्यादा जोर का लगा। आप सावधानी से आसन पर आसीन हो गये और गुरु-कृपा-जन्य शक्ति-जागरण के अनिर्वचनीय दिव्य चमत्कार अनुभव करने लगे,—घूर्णा, स्वतः प्रणायाम, सहज ध्यान, दिव्यानन्द भावावेश, अलौकिक मनःस्थिति आदि-आदि! ठीक यही श्री गुरुदेव द्वारा पूर्व निश्चित् आपका दीक्षा-काल था जिसका, देशगत भेद का

तिरोधान कर, सर्वसमर्थ गुरुदेव ने ही निर्वाह किया था। गुरुतत्त्व में भला देशगत भेद को स्थान कहाँ ? धन्य हैं वे श्री गुरुचरण और धन्य हैं वे परम अधिकारी श्रेष्ठतम शिष्य !

चरम निराशा में अचानक गुरुदेव का अप्रत्याशित कृपा-प्रसाद पाकर आपके हर्षोल्लास की कोई सीमा नहीं रही। उसी दिन आपने अपनी स्थिति का विस्तार से वर्णन करते हुए श्री गुरुदेव को पत्र लिखा तथा समय पर सेवा में न पहुँच पाने के लिए क्षमा-प्रार्थना की। यथासमय श्री गुरुदेव का उत्तर प्राप्त हुआ—"भगवती ने आप के ऊपर कृपा की है। आपकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो चुकी है जिसके लक्षण आपको अनुभव हो रहे हैं। तथापि विधिवत् गुरु-शिष्य सम्बन्ध संस्कारानुसार सम्पन्न कर लेना आवश्यक है। आप किसी भी दिन यहाँ आ सकते हैं।"

तत्पश्चात् आप ऋषिकेश पहुँचे और भाव-विभोर होकर श्री गुरु-चरणों में लोट-पोट हो गये। श्री गुरुदेव से विधिवत् दीक्षा-संस्कार सम्पन्न करने की प्रार्थना की। श्री गुरुदेव ने विधिवत् दीक्षा देकर शक्ति-मन्त्र—'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चै'—का उपदेश दिया जिससे आपको दैवी शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। आपने स्वर्गाश्रम में राजा साहब सिगाही की कोठी में १५ दिन निवास करके गुरु-सान्निध्य का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त किया। श्री गुरुदेव ने आपके त्याग-तपोनिष्ठ सर्वथा शुक्ल व्यक्तित्व से प्रभावित होकर तभी आपको गुरु-पद पर प्रतिष्ठित करके शक्तिपात दीक्षा देने की आज्ञा भी प्रदान कर दी।

शक्तिपात दीक्षा ने आपके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। आर्यसमाजी विचारधाराजन्य वाग्वितण्डावादी थोथी आस्थायें सर्वथा निर्मूल हो गयीं। सनातनधर्म एवं उसके सारगर्भित सिद्धान्तों में श्रद्धा एवं आस्था दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। कर्मकांडी तो

आप थे ही, अब सनातनी आस्था के उद्रेक से पूजा-पाठी जापक भी बन गये। श्री गुरु से प्राप्त शक्ति-मन्त्र को आपने रजत-पत्र पर अंकित करा कर अपनी पूजा का प्रधान आधार बना लिया और निश्चल निष्ठा से जीवन भर इसका निर्वाह किया। अभाव की अनुभूति शनैः-शनैः पूर्ण भाव में परिवर्तित होने लगी।

× × × ×

[३]

उत्तरप्रदेश राज्य के बुलन्दशहर मण्डलान्तर्गत तहसील सिकन्द्राबाद में किशनपुर नाम का एक छोटा-सा गाँव है जिसमें अधिकांशत: कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों का ही निवास है। यह गाँव खुले जङ्गल में बसा हुआ है, जिसके समीप दूर-दूर तक और कोई बस्ती नहीं है। इसी गाँव में कौशिक गोत्रीय एक पुण्यात्मा ब्राह्मण श्री पं० मेदसिंह जी निवास करते थे। आंग्ल-शासन से पूर्णतया प्रभावित परतन्त्र भारत में उस समय ब्राह्मणोचित शिक्षा एवं आजीविका का नितान्त अभाव हो चुका था। अत: मेदसिंह अत्यल्प शिक्षित थे तथा आजीविकोपार्जन हेतु कृषि-कार्य पर ही निर्भर थे। गांव में उनके पास थोड़ी-सी पैतृक कृषि-भूमि थी जो उनके परिवार के भरण-पोषण का एक मात्र सहारा था।

अल्पशिक्षित तथा ग्रामीण होते हुए भी मेदसिंह जी में ब्राह्मणोचित सन्तोष, क्षमा, आर्जव, सत्यनिष्ठा आदि सभी सद्गुण विद्यमान थे। कविवर मैथिलीशरण की पंक्ति—'यद्यपि वे काले हैं तन के, पर अति ही उज्ज्वल हैं मन के' की वे साक्षात् प्रतिमा थे। मेदसिंह की धर्मपत्नि श्रीमती सुन्दरीदेवी परम साध्वी पतिपरायणा विदुषी आर्या थीं। दम्पति की बाह्य भौतिक परिस्थितियां भले ही अति सामान्य एवं शुद्ध ग्रामीण थीं, परन्तु उनके सुकृत इतने उत्कृष्ट थे कि अन्तरालोक परिपूर्ण था। भगवान शंकर का अन्तःप्रसाद दम्पति को प्राप्त था।

वाह्य अभावों पर अन्तः शम-दम-पूर्ण भाव छाया हुआ था। जो अन्दर से परिपूर्ण हो, भला वाह्य अभाव उस पर अपना प्रभाव कैसे और कितना डाल सकते हैं ?

श्री मेदसिंह के ज्येष्ठ पुत्र का नाम श्री गंगासहाय तथा द्वितीय पुत्र का नाम श्री मिश्रीलाल था। इनकी तृतीय सन्तान कन्या थी। इन तीन सन्तानों के पश्चात् श्रीमती सुन्दरीदेवी ने एक सतमासे (सात मास तक ही गर्भस्थ रहकर जन्मने वाले) शिशु को जन्म दिया। घर में किसी को इस सतमासे जन्मे शिशु के जीवित रहने की बिल्कुल भी आशा नहीं थी। परन्तु वात्सल्य मूर्ति मा तो अपनी सन्तान के लिए कभी ऐसे विचारों को प्रश्रय दे ही नहीं पाती। भले ही उस समय प्रत्यक्ष रूप से यह किसी को भी ज्ञात नहीं था कि यह सतमासा शिशु उनके प्रवल-पुण्यों के परिपाक स्वरूप ही उनके यहां जन्मा है जो एक दिन ब्रह्मनिष्ठ होकर न केवल स्वयं का वरन् अपनी सात पीढ़ियों और अनेकों संसार-सन्तप्त जीवों का भी उद्धार करेगा, तथापि पारस्परिक पूर्व प्रारब्ध संस्कारों का आकर्षण परिवार के उपेक्षा-भाव को हटाकर सतत् सावधानीपूर्ण पालन-पोषण की स्नेहपूर्ण अन्तः प्रेरणा एवं साहस धैर्य देता रहा जिसके फलस्वरूप ही वह शिशु जीवित रह सका। यही सतमासा जन्मा शिशु आगे चलकर— 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन'—को चरितार्थ करते हुए हमारे चरित-नायक श्री दिलीपदत्त शर्मा उपाध्याय के नाम से सुविख्यात हुआ।

श्री उपाध्याय जी का जन्म संवत् १६३५ में हुआ था। गांव में शिक्षा का अभाव था और पड़ोस में कोई पाठशाला नहीं थी, अतः लगभग १२ वर्ष की अवस्था तक आप घर के कार्यों में ही हाथ बटाते तथा गौ चराते रहे। पूर्व जन्मार्जित आध्यात्मिक संस्कारों की छाप आपकी जीवनचर्या में स्पष्ट झलकती थी और प्रातःस्नान, सरलता-

पवित्रता, यथायोग्यता नियम से नेत्र बंद कर ध्यान करना आदि सब बचपन से ही चलने लगा था। आपके सभी कार्य-कलाप, रुचि एवं मान्यतायें शुद्ध भारतीय संस्कृति के अनुरूप थे।

आपके पिता श्री मेदसिंह जी स्वयं अत्यल्पशिक्षित थे, अतः उन्होंने इनकी शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। आप बार-बार विद्याध्ययन के लिए किसी पाठशाला में भरती कराने का आग्रह करते, पर आपके पिता जी टाल जाते और माता जी भी पुत्र-स्नेहवश चुप रहतीं, क्योंकि पाठशाला में भरती कराने के लिए तो उन्हें पुत्र को अपनी आंखों से ओझल ही करना पड़ता।

किशनपुर से लगभग ८ मील दूर गुरुकुल महाविद्यालय सिकन्द्राबाद संस्कृत-शिक्षा का विद्यालय था। विद्यार्जन की तीव्र अभिलाषा से विवश होकर आप १२ वर्ष की आयु में घर से भागकर उसी गुरुकुल में प्रविष्ट हो गये।

आप गुरुकुल के एक मेधावी तथा परम अनुशासित मर्यादापालक छात्र रहे। पूर्वजन्म से ही मानो इन्हें सरस्वती का वरदान प्राप्त था, अत: अध्यापक से एक वार सुन-समझ लेने पर ही आपको विषय याद हो जाता था। संस्कृत भाषा के सूत्र, धातु एवं रूप आदि याद करने के लिए आत्यन्तिक रटाई-घुटाई की आवश्यकता कुख्यात है, पर आप इसके प्रतिवाद थे। जैसे निर्वात स्थान में राख से ढकी हुई अग्नि ऊपर की राख के हटते और हवा के लगते ही दहक उठती है, इसी तरह शिक्षा-अभावग्रस्त ग्रामीण वातावरण में दबी-ढकी पड़ी हुई आपकी विद्याध्ययन की तीव्र लालसा, प्रतिभा एवं कुशाग्रबुद्धि गुरुकुल का वातावरण मिलते ही उद्दीप्त हो उठी। फलत: विलक्षण स्मरण एवं मेधाशक्ति के कारण एक-एक वर्ष में ही दो-दो कक्षाओं को उत्तीर्ण करते हुए आपने कुछ ही सत्रों में गुरुकुल का तत्कालीन सर्वाङ्ग सम्पूर्ण अध्ययन समाप्त कर लिया।

आज्ञा, अनुशासन एवं मर्यादा-पालन करने के कारण आप अपने आचार्यों के पूर्ण स्नेह तथा कृपा-भाजन थे। आपके सेवाभाव, आत्मीयता एवं निःस्वार्थ परोपकार-परायणता ने आपको गुरुकुल के समस्त छात्रों में मूर्धन्य एवं सर्वप्रिय अजातशत्रु बना दिया था। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से आप दुसह अभावग्रस्त थे तथा भोजनाच्छादन का निर्वाह भी गुरुकुल से ही होता था, पर अपनी सद्गुण सम्पदा एवं अचल भगवद्-निष्ठा के कारण आपके भौतिक अभावों का निराकरण ठीक समय पर स्वतः होता चला जाता था जो जन्म से लेकर शिव-लोक-प्रयाण तक आपके जीवन की एक अनबूझ पहेली बनी रही। 'तेषां सततयुक्तानां योग-क्षेम वहाम्यहम्'—के निर्वाह का आपके जीवन से बढ़कर कोई दूसरा उदाहरण खोजने पर भी शायद ही मिल सके।

जैसा कि बता ही आये हैं, गुरुकुल महाविद्यालय सिकन्द्राबाद संस्कृत-शिक्षा के साथ-साथ प्रधानतया आर्यसमाजी विचारधाराओं के प्रचार-प्रसार का केन्द्र था। अतः शिक्षण के साथ-साथ आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए उपयुक्त प्रचारक, उपदेशक तैयार करना इस विद्यालय का प्रधान लक्ष्य था। श्री उपाध्याय जी भी यहां से आर्य-समाजी विचारधारा के दृढ़ संस्कार संचित कर तथा सुयोग्य उपदेशक ब्रह्मचारी के रूप में ढलकर निकले और विद्याध्ययन के साथ-साथ आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र आर्यसमाजी सभा-सम्मेलनों में उपदेशक का कार्य भी करने लगे।

प्रसिद्ध आर्यसमाजी संन्यासी स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती की प्रेरणा से सन् १९०३ में गुरुकुल सूर्यकुंड बदायूं की स्थापना हुई थी जिसके मुख्याध्यापक ताजपुर निवासी श्री पं० जीवाराम जी थे। श्री पं० जीवाराम जी श्री उपाध्याय जी की प्रतिभा से परिचित थे। अतः नया गुरुकुल चलाने के लिए प्रतिभासम्पन्न छात्रों एवं उपदेशकों की आवश्यकता अनुभव करते हुए उन्होंने उपाध्याय जी को प्रेरित कर

अपने गुरुकुल सूर्यकुण्ड वदायूँ में लिवा ले गये। प्राय: गुरुकुल के प्रारम्भ से ही आप वहां पहुँच गये। आप वहां प्रारम्भिक कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे, उपदेशक का कार्य करते थे तथा स्वयं अध्ययन भी करते थे। आपको वहां जीवन-निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास तथा नाम मात्र का वेतन या कहिये छात्रवृत्ति मिलती थी।

श्री मंगलदेव शास्त्री डी० फिल० उस समय आपके विद्यार्थी रहे। आपसे ही श्री मंगलदेव जी ने 'धातुपाठ' पढ़ा था। यद्यपि आप का गुरु-शिष्य सम्वन्ध तो श्री शास्त्री जी से अत्यल्प ही रहा, परन्तु इनसे स्नेह, सौहार्द एवं सम्पर्क आजीवन वरावर वना रहा। वाद में श्री मङ्गलदेव जी शास्त्री अनेकों वर्षों (प्राय: सन् १९३२ से १९४८) तक गवर्नमेंट संस्कृत कालेज वाराणसी के प्रधानाचार्य तथा प्रधान निवन्धक रहे तथा सदैव श्री उपाध्याय जी की सेवा-सहायता करते रहे। आध्यात्मिक गुरुपद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् सन् १९४७-४८ में श्री उपाध्याय जी ने श्री मंगलदेव जी शास्त्री को शक्तिपात-दीक्षा भी देकर कृतार्थ किया।

आपने गुरुकुल सूर्यकुण्ड वदायूँ में श्री पं० मुकुन्द झा (वाद में महामहोपाध्याय) जी से उच्चस्तरीय शिक्षा ग्रहण की। श्री स्वामी दर्शनानन्द जी से दर्शनों का अध्ययन भी वड़ी लगन के साथ किया। श्री पं० मुकुन्द झा से आपने साहित्य का विशेष अध्ययन किया। आप आजीवन अपने इन शिक्षा-गुरुओं के प्रति विनम्र, कृतज्ञ एवं सेवा-परायण रहे।

शीघ्र ही गुरुकुल सूर्यकुण्ड वदायूं की दशा हीन हो चली। आप वदायूँ से गुरुकुल विरालसी चले गये। अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ उपदेशक के नाते आपको प्राय: सभा-सम्मेलनों में आना-जाना ही पड़ता था। ग्रामीण क्षेत्रों में तब यातायात के साधन सुलभ नहीं

थे, अतः आपको प्रायः पैदल ही यात्रा करनी पड़ती थी। उत्साही युवा ब्रह्मचारी होने के नाते आप इसमें कभी कोई कठिनाई, प्रमाद या आलस्य अनुभव नहीं करते थे।

एक बार आप गुरुकुल से उपदेशार्थ किसी दूरस्थ गांव को जा रहे थे कि रास्ते में एक वृद्ध शिक्षित ब्राह्मण साथ हो लिए जो अपनी सामर्थ्य से अधिक सामान लिए हुए थे और जिसे वे ढो नहीं पा रहे थे। निष्काम सेवा आपके जीवन का एक सहज-स्वाभाविक अङ्ग था. फलतः वृद्ध की ओर से कोई प्रस्ताव आये विना ही आपने उनका वोझा स्वयं ले लिया और उन्हें भारमुक्त कर दिया। स्वभावतः ही वृद्ध की चाल धीमी थी। एक वार तो आपके जी में आया कि सामान छोड़कर पूरी तेज चाल से चलकर सूर्यास्त तक गन्तव्य स्थान पर पहुँचा जाय, पर दूसरे ही क्षण अपने सहयोगी कुत्ते तक का भी साथ न छोड़ने वाले युधिष्ठिर के आचरण का स्मरण हो आया। धर्मभीरु धर्मात्मा उपाध्याय जी ने तेज चलने का विचार त्यागकर मार्ग भर वृद्ध का साथ निभाने का निश्चय कर लिया। वृद्ध धीमे तो चलते ही थे, वार-वार यत्र-तत्र सुस्ताने भी वैठ जाते थे। फलतः सूर्यास्त का समय हो गया और आपका गन्तव्य स्थान अभी दूर रह गया।

वृद्ध का गन्तव्य गांव उस मार्ग से थोड़ा हटकर था, जवकि आपको सीधे उसी मार्ग पर अभी कई मील आगे जाना था। वृद्ध ने अपने भार और समय का विचार कर आग्रह किया कि सूर्यास्त हो रहा है, अन्धेरे में अव आप कहां जायेंगे ? अतः इस समय तो मेरे साथ मेरे सम्वन्धी के घर ही चलें। रात्रि को वहीं निवास करें और प्रातः अपने गन्तव्य स्थान को चले जायें। आपने वृद्ध-सेवा एवं सायंकाल का विचार करते हुए उनका सुझाव स्वीकार कर लिया और सूर्यास्त होते-होते सामान उठाये उनके सम्वन्धी के यहां जा पहुँचे।

सम्वन्धियों ने वृद्ध का वड़ा आदर-सत्कार किया। उन्हें घर में

अन्दर लिवा ले गये। सब सामान भी अन्दर पहुँचा दिया गया, परन्तु श्री उपाध्याय जी की ओर किसी ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। वहीं बने एक फूँस के छप्पर के नीचे पड़ी एक चारपाई पर उन्हें बिठाकर घर वाले अपने वृद्ध सम्बंधी के स्वागत, सत्कार तथा कुशल-क्षेम के वार्तालापों में तल्लीन हो गए। श्री उपाध्याय जी शौच, संध्या-वन्दन से निवृत्त होकर अपने झोले का तकिया लगा चारपाई पर लेट रहे। रात्रि के १० बज गये, किसी ने आपकी कोई खबर नहीं ली।

जब सब के सोने का समय हो चला तो वृद्ध सज्जन लघुशंका के लिए बाहर निकले। आप को इस हालत में लेटे देख वृद्ध कुछ संकोच एवं सशंकित भाव से इनकी ओर ताकते हुए लघुशंका से निवृत्त होकर अन्दर चले गये और अपने किसी संबंधी से पुकारकर पूछा कि ब्रह्मचारी (उपाध्याय) जी को भोजन करा दिया है या नहीं ? उनके संबंधी ने उत्तर दिया कि सोने के लिये चारपाई एवं स्थान दे रक्खा है जो सामान को उठा लाने के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक है। सामान उठा कर लाने के लिए भोजन भी देना तो आपने तय नहीं किया था ? भोजन उसको साथ लेकर घर से चलना चाहिये था। वृद्ध सज्जन यह सुनते ही अपने संबंधी पर उबल पड़े और अनेकों भली-बुरी सुनाने के बाद थाल में परोस कर आपको भोजन पहुँचाने का आग्रह किया।

वृद्ध के आग्रह से विवश उनका संबंधी थाली में भोजन और लोटे में जल लेकर आपके पास पहुँचा। पीछे-पीछे वे वृद्ध सज्जन भी थे जो आपके नाराज हो जाने की आशंका तथा अपनी चूक के कारण अत्यन्त लज्जित लग रहे थे। उपाध्याय जी लेटे-लेटे यह सब वार्तालाप सुन चुके थे। उनके पास पहुँचते ही आप उठ बैठें और बड़ी ही संयत मधुर वाणी में बोले—'आपके संबंधी ठीक ही कह रहे हैं। भार उठाकर लाने के लिए मेरा आप से कोई पारिश्रमिक तय नहीं

हुआ था। मैंने तो स्वपितृतुल्य एक वृद्ध के प्रति अपने कर्तव्य का पालन मात्र ही किया है। इस के लिए भला पारिश्रमिक कैसा ? मैंने आपकी सेवा के लिए ही जो सेवा की है, उसका मैं विक्रय नहीं करना चाहता, अतः पारिश्रमिक के रूप में मुझे यह चारपाई और स्थान भी नहीं लेना चाहिये। आप किसी भी प्रकार का कोई संकोच या खेद अनुभव न करें, मैं अभी यहां से प्रस्थान करके शीघ्र ही अपने गन्तव्य स्थान पर जाकर विश्राम करूंगा।'

आपके मृदु, कोमल, संयत कथन ने उनके ऊपर मानों घड़ों पानी डाल दिया। दीपक के मन्द प्रकाश में स्तब्ध खड़े कुछ देर तक वे आप के चेहरे की ओर देखते रहे। कुछ देर आग्रह-अस्वीकृति का दौर चलने के बाद अन्ततः आतिथेय आपके चरणों पर लेट गया। आशुतोष उपाध्याय जी ने वृद्ध सज्जन एवं आतिथेय के कल्याणार्थ उनका आग्रह स्वीकार कर लिया। अतिथि के इस प्रकार तिरस्कृत होकर चले जाने से गृहस्थ के पुण्यों के शास्त्रोक्त क्षय को धर्म-मर्मज्ञ श्री उपाध्याय जी भली भांति समझते थे और आप का हृदय जन-कल्याण की भावना से सतत् सदैव परिपूर्ण रहता था, अतः वे उस गृहस्थ के पुण्य-संरक्षण के हेतु ही वहाँ ठहर गये।

यद्यपि आप अभी गृहस्थी के बन्धन में नहीं पड़ना चाहते थे, परन्तु उन दिनों अल्पायु में ही विवाह हो जाने की प्रथा-सी ही प्रचलित थी। प्रायः नाई और पुरोहित ही लड़के-लड़की देखकर सम्बन्ध तय कर दिया करते थे और भावी वर-वधू को इसकी कोई जानकारी तक भी नहीं हो पाती थी। इसी प्रथा के अनुसार इसी बीच में आपके पिता ने आपकी अनुमति लिए बिना ही सगाई स्वीकार कर ली। अनिच्छा के कारण आप इससे बड़े असमंजस में पड़ गये, परन्तु राम के समान मर्यादा पालक श्री उपाध्याय जी पितृ-आज्ञा का उल्लंघन भला कैसे कर सकते थे ! पुत्रवधू-प्राप्ति की प्रसन्नता में माता की आज्ञा भी विवाह

कर लेने की ही हुई। अतः मातृ-पितृ-आज्ञा में बँधकर अनिच्छा होते हुए भी आपने इस बन्धन को स्वीकार कर लिया और लगभग २०-२२ वर्ष की आयु में आपका विवाह एक सुलक्षणी कन्या कर्पूरीदेवी के साथ सम्पन्न हो गया। पत्नि प्रायः आपके माता-पिता के पास रहती थीं, अतः उनके भरण-पोषण का आप पर कोई विशेष भार नहीं था।

आपको कर्पूरी देवी से एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। आपका यह गृहस्थ जीवन लम्बे समय तक नहीं चल पाया। पुत्र-प्रसव के पश्चात् पुत्र एवं पत्नी दोनों ने ही इस संसार से विदा ले ली। यों तो आप जन्मजात स्वाभाविक ही धीर, गम्भीर एवं निस्पृह त्यागी तपस्वी थे, पत्नि एवं पुत्र विछोह ने आपके विवेक, वैराग्य एवं निस्पृहता में और भी निखार ला दिया। आप इस आघात के निवारणार्थ अधिकाधिक संस्कृत विद्या के प्रचार-प्रसार, निष्काम जन-सेवा तथा आत्मानुसन्धानार्थ सन्ध्या, हवन, शास्त्राभ्यास आदि में तल्लीन होते चले गये। ऋण, फिर चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, आप को सर्वथा असह्य हो उठता था। यही कारण था कि निरन्तर अभावों से जूझते तथा भोजनाच्छादन न मिलने पर भी आप कभी किसी से कोई याचना या अपेक्षा नहीं करते थे। वे आर्थिक रूप से कभी किसी के ऋणी नहीं बने। ऋषिऋण, पितृऋण आदि शास्त्रीय ऋणों से मुक्ति पाने के लिए भी आप आजीवन प्रयत्नशील रहे और यही कारण था कि स्वतः उपराम होने पर भी पितृ-ऋण से उऋण होने की भावना ने ही आपको एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा भी विवाह करने को विवश कर दिया था।

गुरुकुल विरालसी से आप दतियाने ज़िला बिजनौर चले गये। पत्नि एवं पुत्र के चले जाने से आपकी उपरामता चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। दतियाने में आपके अनेकों हितैषी, प्रशंसक तथा सहायक मित्र थे जिनमें सर्व श्री रामचन्द्र जी तथा बलवन्तसिंह जी

त्यागी प्रमुख थे। आप गाँव के तथा आस-पास के बच्चों को निःशुल्क संस्कृत पढ़ाया करते थे और आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार किया करते थे। आप वहाँ यथालाभ सन्तुष्ट थे। इनकी अपनी तो कोई चाह या मांग थी ही नहीं, विद्यार्थियों से जो कुछ मिल जाता, उसी में सन्तोष एवं प्रसन्नता पूर्वक अपना निर्वाह कर लेते थे।

जैसा कि पहले कह आये हैं, सन् १६०४ में आपने श्री पं० मुकुन्द झा से साहित्य का विशेष अध्ययन किया था और साहित्याचार्य की परीक्षा भी पास कर ली थी। तभी से आपकी रुचि काव्य-रचना की ओर बढ़ती जा रही थी। आप का विचार अब आजीवन ब्रह्मचारी ही रहने का था, परन्तु आपके हितैषी मित्रों ने आप से गृहस्थी होने का आग्रह किया। वे आपके ऋण-भीरु स्वभाव से परिचित थे, अतः इसी भावनात्मक भावुकता का लाभ उठाते हुए, पितृ-ऋण से उऋण होने की दुहाई देकर, उन्होंने आपको विवाह कर लेने के लिए तैयार कर लिया। परिणामस्वरूप लगभग ३५ वर्ष की आयु में आपका दूसरा विवाह गुलावठी (जिला बुलन्दशहर) से सर्वसुलक्षणसम्पन्ना कन्या सावित्री देवी से हुआ।

गृहस्थ-जीवन के निर्वाह के लिए तो नियत-नियमित आय की आवश्यकता थी। जब तक आप अकेले थे, तब तक तो आकाशी वृत्ति ठीक निभ रही थी, परन्तु अब पत्नी की भावनाओं का निर्वाह करना भी आवश्यक था। इसी बीच माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण पहिले जैसी सुविधा एवं निश्चिन्तता भी सम्भव नहीं थी, पत्नि के भरण-पोषण का भार एक मात्र अपने ही ऊपर था। इन सब परिस्थितियों एवं हितैषियों के आग्रह ने आपको नौकरी करने के लिए बाध्य कर दिया। विद्वत्ता एवं सद्गुणों के कारण, उन दिनों संस्कृत-अध्यापक की नौकरी मिलना अति कठिन होते हुए भी, आपके लिए कोई

समस्या नहीं थी। अतः आप दतियाने से महाविद्यालय ज्वालापुर चले आये और वहीं साहित्य का अध्यापन करने लगे।

पहिले उल्लेख कर आये हैं कि आप कट्टर आर्यसमाजी थे और आर्यसमाज के प्रवर्तक श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती के प्रति परमनिष्ठावान् थे। आर्यजगत् के प्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान् वेदोद्धारक श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज का जीवन-चरित उस समय तक संस्कृत भाषा में कोई उपलब्ध नहीं था और संस्कृतवेत्ता आर्यसमाजी विद्वानों को इसका अभाव वहुत खटकता था। काव्य-रचना में आपकी रुचि थी ही। एक वार महाविद्यालय ज्वालापुर के अध्यापकों में परस्पर इस अभाव की चर्चा चली और इसकी परम आवश्यकता व्यक्त की गई तो श्री उपाध्याय जी ने झट इसे लिखना स्वीकार कर, पठन-पाठन में अति व्यस्त रहते हुए भी, कुछ ही दिनों में इस जीवनी को छन्दबद्ध संस्कृत में लिख डाला जो मुद्रित होकर सं० १९७१ में प्रकाशित हुई और 'मुनिचरितामृत' नाम से महाकाव्य के रूप में आर्य-समाजी जनता में अत्यन्त लोकप्रिय होकर अपने ढंग की अद्वितीय मानी जाने लगी।

'मुनिचरितामृत' महाकाव्य का पूरा-पूरा रसास्वाद तो संस्कृत-साहित्य के विद्वान् ही ले सकते हैं, परन्तु संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान रखने वाला भी इसमें उपमा एवं अनुप्रासों की छटा तो पा ही सकता है। भाषा इतनी सरल एवं सरस है कि पाठक स्वयं सरस हो उठता है। भावाभिव्यक्ति इतनी मधुर और पूर्ण है कि पाठकों के सामने कथावस्तु का स्वतः साक्षात् हो जाता है। शब्दों का चयन इतना उपयुक्त है कि कहीं भी उनकी शक्तिवृत्ति कुण्ठित या हतप्रभ नहीं होने पाती। छन्द इतने सरल गेय हैं कि पाठक विना प्रयास स्वरों का अनुसरण कर पाता है। इस महाकाव्य-रत्न के रूप में श्री उपाध्याय जी की अद्यावधि अप्रत्यक्ष साहित्यिक प्रतिभा संस्कृत-जगत् में नवआभा एवं दृढ़ भावी आशायें

लेकर प्रकट हुई। इसी महाकाव्य ने आपको काव्यतीर्थ के रूप में सुविख्यात कर दिया।

महाविद्यालय ज्वालापुर में कुछ वर्ष तक साहित्याध्यापक रहने के प्रश्चात् आप वहाँ के प्रधानाचार्य हो गये। महाविद्यालय में कनखल निवासी श्री रामचन्द्र शर्मा वैद्य चिकित्सा-कार्य करते थे। ›पकी इन वैद्य जी से बड़ी घनिष्ट मित्रता थी और परस्पर एक ही परिवार के सदस्यों जैसी आत्मीयता थी। इन वैद्य जी से आजीवन आपके घनिष्ट आत्मीय सम्बन्ध रहे। वैद्य जी से आपने चिकित्सा शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान एवं अभ्यास प्राप्त कर लिया।

आपको अपनी द्वितीय पत्नि सावित्रीदेवी से लगभग ‹२ वर्ष के गृहस्थ जीवन में केवल एक पुत्र की प्राप्ति हुई। दैवेच्छा से या कहो आपके प्रवल प्रारब्ध भोग से पूर्ववत् ही पुनः पत्नि एवं पुत्र दोनों ही आपको अकेला छोड़कर चल वसे। आपकी अवस्था लगभग ४५-४७ वर्ष की हो चली थी। पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए ही तो आपने दूसरा विवाह किया था, फिर भी आप उससे उऋण नहीं हो पाये तो इस वार आप के हृदय पर गहरा आघात लगा। स्त्री-पुत्र के वियोग का तो आप को कोई विशेष दुःख नहीं था, परन्तु इस आयु तक भी पितृ-ऋण से उऋण न हो पाने के कारण आप को वार-वार यही विचार आता था कि अवश्य ही मेरे कोई ऐसे दुष्कृत्य हैं जो मुझे सन्ततिहीन तथा पितृ-ऋण-ग्रस्त रहने का दण्ड मिल रहा है। यह विचार आप को अन्दर ही अन्दर घुन की तरह खाये जा रहा था। आपका वर्तमान जन्म तो शुद्ध शुक्ल कर्ममय था, अतः किसी पाप कर्म का ज्ञान या स्मृति तथा उसके प्रायश्चित्त की कोई संगति ही नहीं वैठती थी। पूर्वजन्म-कृत पाप को जानकारी एवं तदनुसार प्रायश्चित्त तो प्रायः संभव होता ही नहीं।

गायत्री मन्त्र पर आपकी अचल निष्ठा थी और विश्वास था कि

इस के सविधि नियमित जप से पूर्व तथा वर्तमान सभी जन्मों के प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष पाप नष्ट हो जाते हैं। आप गायत्री मन्त्र के जप में जुट गये। नित्य सायं-प्रातः नियमित रूप से गायत्री मन्त्र का अधिकाधिक जप करना आपने अपनी जीवनचर्या का प्रधानांग बना लिया। पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए सन्तान-प्राप्ति में बाधक पाप रूप अन्तरायों के निवारणार्थ आपको इससे अच्छा और कोई साधन नहीं जान पड़ा।

× × × ×

[४]

द्वितीय पत्नि एवं पुत्र के देहावसान के बाद से गायत्री-जप के प्रभाव से आपका जीवन बदलने लगा। आर्य-समाज के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ खण्डन-मण्डन में सिर खपाते आपका आधे से भी अधिक जीवन व्यतीत हो चुका था, पर आत्म-शान्ति के दर्शन नहीं हो पा रहे थे। अपने व्यक्तित्व में एक प्रकार का गुरुतम अभाव आपको सतत् अनुभव होता रहता था जिसका कोई निराकरण ही नहीं हो पा रहा था। गायत्री के शान्त-एकान्त जप से आपको कुछ प्रकाश एवं सान्त्वना की अनुभूति हुई। यों तो पहिले से भी आप गायत्री मन्त्र को आर्य-समाजी मान्यता के कारण महत्व देते ही थे, परन्तु वह महत्व सम्प्रदायविशेष की मान्यताओं की अहंकृति से ओतप्रोत अन्यों के उपदेशार्थ मात्र ही था, अपने आचरण की वस्तु नहीं था, जैसा कि किसी भी मत या सम्प्रदाय के 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' प्रचारक उपदेशकों में प्रायः होता ही है।

एक ओर से सभी को उपदेश झाड़ना और अहंकारवश आत्म-निरीक्षणशून्य होकर स्वयं उसके आचारण से विमुख रहना किसी

भी आध्यात्मिक विचारधारा वाले व्यक्ति के लिए परम भयावह एवं प्रगति-निरोधक स्थिति है। ऐसे उपदेश से न तो जनकल्याण ही संभव है और न स्वकल्याण ही होता है। जिस उपदेश के पीछे आचरण एवं स्वानुभव का वल नहीं वह तोते की रटन्त मात्र कोरी वकवास है। भले ही उससे अल्पकालिक प्रतिष्ठा-पूजा प्राप्त भी हो रही हो, अन्ततः अनुपलब्धि अथवा पतन सुनिश्चित् है। आपको इस तथ्य की अनुभूति होने लगी थी जिसके फलस्वरूप उपदेश एवं खण्डन-मण्डन से आपको अरुचि होने लगी।

आर्यसमाजी प्रचार-केन्द्रों के संचित संस्कार, उन्हीं से जीविका का निर्वाह तथा उन्हीं के सदस्य, संरक्षक एवं प्रचारकों से घनिष्टता आदि परिस्थितियां आपको पूर्ववत् उपदेशक-प्रचारक-अध्यापक का जीवन विताने के लिए प्रेरित तथा बाध्य कर रही थीं, अतः सहसा इन सवका परित्याग संभव नहीं था। आपको अव भी प्रचार-प्रसार एवं खण्डन-मण्डन में सहयोग देना तथा आर्यसमाजी तर्कों-कुतर्कों का समर्थन करना पड़ता था, पर अव यह सव अन्तः अरुचि के कारण उतने उत्साह के साथ नहीं वरन् उदासीन भाव से होता था। कभी-कभी आप इससे विरत भी होते थे तो आपके मित्र, साथी सहयोगी, आग्रह-पूर्वक आपको साथ घसीट लेते थे।

एक दिन श्रीमद्भगवद्गीता उलटते-पलटते आपकी दृष्टि—'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥' (३, २६) पर पड़ी। आपने इस श्लोक को कई वार पढ़ा और तव आपकी विचारधारा इसके चिन्तन-मनन की ओर वह उठी—'जनसामान्य अशिक्षित व्यक्ति मन्दिर में राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि की उपासना, स्तुति, कीर्तन आदि करता है और हम उपदेशक मूर्ति-पूजा का खंडन करते हैं, सभी देवी-देवताओं के पूजन और राम-कृष्ण के कीर्तन से विरत करते हैं, सन्ध्या, हवन, गायत्री का उपदेश

करते हैं। अशिक्षित या अल्पशिक्षितजनों के लिए वेद-मन्त्रों का स्मरण एवं उच्चारण दुष्कर है, अतः वे सहज ही सन्ध्या, हवन तथा गायत्री जप कैसे कर पावेंगे ? सहज श्रद्धा एवं अन्तःनिष्ठा से प्रेरित होकर जिसे वे अनायास ही कर पाते हैं, उस पूजा-कीर्तन आदि के प्रति उनकी श्रद्धा-निष्ठा-विश्वास पर नाना विधि कुठाराघात कर हम उन्हें उससे विरत कर देते हैं और जिस सन्ध्या, हवन, गायत्री-ध्यान को हम उनसे कराना चाहते हैं, उसे वे कर नहीं पाते क्योंकि एक तो वे अशिक्षितों के लिए दुष्कर हैं, दूसरे इनके प्रति उनकी सहज निष्ठा नहीं है और तीसरे उपदेशक स्वयं इस पूजा-पद्धति के निष्ठावान् आचरणकर्त्ता नहीं हैं जिससे उनका उपदेश श्रोताओं को कोई प्रेरणा-प्रकाश ही नहीं दे पाता। इस प्रकार क्या हम उन लोगों को उभय-भ्रष्ट करने के दोषी नहीं हैं ?'

आपकी दृष्टि विवेचनात्मक हो उठी—'माना कि कुछ पण्डे-पुजारियों की धूर्तता के कारण सनातनी-पूजा-पद्धति एवं भजन-कीर्तन में कुछ दोष हैं। ईश्वराराधन की आड़ में पापाचार करने वाले ढोंगी लोगों ने इसे बदनाम कर दिया है। पर दोष और त्रुटियाँ कहाँ, किस में नहीं हैं ? ईश्वर के अतिरिक्त सर्वगुण सम्पन्न सर्वथा निष्पाप कौन है ? त्रिगुणात्मक प्रकृति की शुभाशुभ गति अप्रतिहत है तो कौन शरीर-धारी इससे सर्वथा अछूता रहने का दावा कर सकता है ? क्या आर्य-समाज के सभी प्रचारक, उपदेशक सर्वथा निष्पाप हैं ? क्या उनमें से अधिकांशतः आत्मकल्याण से विरत, सिद्धान्तों के आचरण से हीन आडम्बर एवं पाखंड से वेष्टित भोंपू मात्र नहीं है ? जब वे स्वयं ही आत्मकल्याण तथा स्व-उपदेशानुकूल आचरण से विमुख केवल दूसरों को उपदेश झाड़ने के ग्रामोफोन मात्र हैं तो दूसरों का कल्याण कैसे कर सकते हैं ? जो स्वयं ही अपना कल्याण नहीं कर पाया, वह दूसरे का क्या ख़ाक कल्याण करेगा ?'

आपने अनेकों वार गीता के इस श्लोक का मनन एवं चिन्तन किया और हर वार इससे एक नया विचार, नया प्रकाश आपको मिलता रहा—'श्रद्धा एवं विश्वास शिव-शक्ति रूप हैं। यही उभय साधना का शिर तथा प्राण हैं। यदि कोई नया शिर देने तथा नवीन प्राण-संचार करने में समर्थ न हो तो उसे किसी के शिरच्छेद का अधिकार कैसे हो सकता है ? हम लोग ईश्वर, आत्मकल्याण एवं सदाचरण के दीवाने नहीं, आर्यसमाज के प्रवर्तकों तथा उसके सिद्धान्तों क प्रचार मात्र के दीवाने हैं। 'अन्धेन नीयमानाः यथान्धाः' के अनुसार ऐसी दशा में हम से किसी का क्या कल्याण या सुधार हो सकता है ? उल्टे हम लोग दूसरों की निष्ठा एवं विश्वास-घात-संभूत पाप ही बटोर रहे हैं। मताग्रह के होशरहित जोश में किसी के निष्ठा-विश्वास को पुष्ट-परिष्कृत करने के वजाय हम विद्वान् होकर भी उसका उच्छेद कर रहे हैं। हम आत्मानुग्रह की लोकोत्तर शान्ति के भागी कैसे हो सकते हैं ?'

'सत्यज्ञान का प्रकाश किसी भी भाँति वाहर से ठूँसा नहीं जा सकता। वह तो मनुष्य की निष्ठा एवं श्रद्धा के परिष्करण के साथ-साथ ईश्वर के अनुग्रह से अन्तःकरण में स्वतः प्रस्फुटित एवं विकसित होता है जिसके लिए किसी भी इष्ट भगवद्-विग्रह के प्रति निष्ठा एवं विश्वास का होना प्रथम एवं अनिवार्य आवश्यकता है। यदि किसी की निष्ठा या विश्वास में शास्त्रीय दृष्टि से कुछ कमियाँ हों भी तो पात्र की क्षमतानुसार विद्वान् को केवल उन्हें ही युक्तिपूर्वक शनैःशनैः परिमार्जित करना चाहिये, न कि उस निष्ठा का ही समूल उच्छेद कर डालना चाहिये। एक दूषित अथवा व्याधिग्रस्त अंग के उपचार के वजाय समूचे शरीर को ही नष्ट कर डालने वाले अथवा रोग के वजाय समूचे रोगी को ही निरस्त कर देने वाले डाक्टर या वैद्य को भला कौन समझदार क्षम्य मानेगा ? हमारे उपदेशक तो यही करने में जुटे हैं।'

उपरोक्त विचारधारा ने आपके जीवन एवं क्रियाकलापों को नया मोड़ दे डाला। वार्तालाप में भी आपकी यह विचारधारा अभिव्यक्त होने लगी। प्राय: आपके सभी मित्र, सहयोगी-साथी तथा संस्था के अधिकारी आर्यसमाजी ही थे। आप में इस प्रकार अकस्मात् विचारों का परिवर्तन देखकर वे सभी सशंकित हो उठे। उन्हें आप की यह विचारधारा रुचिकर तथा सह्य नहीं थी, अत: परस्पर कुछ खिचाव-अलगाव रहना आरम्भ हो गया। सत्य में नहीं वरन् सत्य का पोला ढोल पीटने मात्र में मदहोश भला इनकी सत्यान्वेषी विचारधारा को सह भी कैसे सकते थे? परछिद्रान्वेषण की अभ्यस्त दृष्टि आत्मनिरीक्षण में आसानी से प्रवृत्त नहीं होती और पथराकर सहिष्णुता से तो सर्वथा ही शून्य वन जाती है।

विचारधाराजन्य मतभेद की खाई शनै:-शनै: अधिकाधिक वढ़ती हो गई। परिणामस्वरूप महाविद्यालय की सेवाओं से निवृत्ति पाने के विचार आपको घेरने लगे। विचार वह चिनगारी है जो अपने विरोध के वृहद् अम्बारों को भी कालान्तर में भस्म करके ही छोड़ती है। विचार की शक्ति अणु एवं उद्जन बम से भी कहीं अधिक वढ़कर है, इसे आत्मचिन्तनरत महापुरुष ही भली-भाँति समझ पाते हैं। विचार के बल से ही ईश्वर सृष्टि का प्रभव, पालन एवं प्रलय करते हैं जिसको शास्त्रों में 'ज्ञानमय तप' कहा गया है। वेदान्त के सिद्धान्तानुसार विचार ही जीव के जीवत्व का परिहार कर उसे ब्रह्म वना देने में सक्षम है। उसी विचार ने आपके जीवन को वदल डाला तो यह कोई वड़ी या अविश्वसनीय बात नहीं थी, फिर भी निकट सहयोगी-साथी आप में घटित इस परिवर्तन पर आश्चर्यचकित थे।

इसी समय एक घटना घटी। नरवर (अनूपशहर) के आस-पास किसी स्थान पर सनातनियों एवं आर्यसमाजियों का शास्त्रार्थ हुआ, जैसा कि प्राय: कभी कहीं तो कभी कहीं होता ही रहता था। नरवर

में भी एक संस्कृत विद्यालय है जिसके संचालक एवं प्रतिष्ठाता ब्रह्मीभूत श्रद्धेय श्री जीवनदत्त जी ब्रह्मचारी थे। श्री जीवनदत्त जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् एवं कट्टर सनातनी थे, पर वे सच्चे साधक, त्यागी, तपस्वी एवं आत्मचिन्तनरत निरभिमान महात्मा थे, सनातन धर्म के प्रचारक भोंपू मात्र नहीं थे। यह शास्त्रार्थ-समारोह आर्यसमाज की ओर से ही आयोजित था। सनातनियों की ओर से प्रश्न उठा कि आर्य-समाज मूर्ति पूजा का खण्डन करता है, पर वह स्वयं क्या मूर्तिपूजक नहीं है ? एक जोशीले नवयुवक प्रचारक ने खड़े होकर इसका प्रतिवाद किया कि आर्यसमाजी मूर्तिपूजक हरगिज नहीं हैं और मूर्तिपूजा उनके सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत, हेय एवं त्याज्य है। इस पर सनातनियों की ओर से मांग की गई कि यदि आप वास्तव में ही मूर्तिपूजक नहीं हैं और मूर्तिपूजा हेय एवं त्याज्य है तो अपने मंच पर प्रतिष्ठित अपने श्रद्धेय मतप्रवर्तक के चित्र पर ५ जूते लगाइये ताकि हमें आपके कथन का विश्वास हो सके, क्योंकि चित्र भी तो एक मूर्ति और कागज-रंगीन स्याही आदि के सम्मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्रचारक महोदय अपने ही जाल में फँसकर हत्प्रभ हो उठे। क्या करते, अपनी और अपने सिद्धान्तों की नाक रखने का प्रश्न था। सोच-विचार में डूबे महाशय से उपरोक्त मांग पुनः दुहराई गई। आर्य-समाज के सिद्धान्तों के दीवाने महाशय ने मदहोशी में जोश खाकर अपना ही पद-त्राण उठाया और चित्र पर पांच वार जड़ दिया। इस पर अभी तक स्तब्ध बैठे अन्य आर्यसमाजी सदस्य भड़क उठे। उन्होंने महाशय को मंच से नीचे घसीट लिया और सिद्धान्तों की नाक बचाने वाले को ही नाक रगड़ने या कटाने के लिए विवश करने लगे। सनातनी लोग उन महाशय के अभिभापक एवं संरक्षक बन कर सामने आ गये। किसी तरह महाभारत होते-होते रुका और सभा विसर्जित हो गई।

बाद में उन भावनाशून्य सिद्धान्तनिष्ठ महाशय पर आर्यसमाज के प्रवर्तकों और श्रद्धेय महापुरुषों का अपमान करने का आरोप लगाकर उन्हें आर्यसमाज से निष्कासित करने का प्रसंग चला। इस घटना का भी आपके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा और आर्यसमाज की ओर से उदासीनता दृढ़ हो गई। 'जब दिवंगत एकदेशीय मानव के कागज-स्याही-निर्मित चित्र के अपमान से उसके व्यक्तित्व का ही अपमान हो सकता है तो सर्वदा सर्वव्यापी भगवान की स्वर्ण, रजत या पाषाणमयी प्रतिमा के अपमान से उस सर्वज्ञ शक्तिमान् का अपमान कैसे नहीं माना जा सकता ?'—आपको इस प्रश्न का समाधान आर्यसमाजी सिद्धान्तों में खोजने पर भी नहीं मिल पाया।

एक ओर मतभेद और दूसरी ओर आजीविका की घुटन बढ़ती ही चली गई। इसी घुटन में आपका कुछ समय से मूर्छित पड़ा हुआ ब्राह्मणत्व जाग उठा। अपने ही ऊपर ग्लानि होने लगी—'जीविका के लिए आत्महनन ! क्या यही ब्राह्मणत्व है ? निश्चय ही यह कुण्ठा मताग्रह एवं चाकरी के पाप का परिणाम है। विद्या के विक्रय से आजीविका चलाना अपनी पतिव्रता भार्या को परपुरुष को सौंपकर धनलाभ करने सरीखा ही तो है। क्या सनातनियों के षोडशकलापूर्णावतार भगवान तथा आर्य-समाजियों के योगीराज महापुरुष श्री कृष्ण का —'तेषां सततयुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम्'—आश्वासन झूठ हो सकता है ? कमी तो केवल मेरी निष्ठा की ही है। धिक्कार है मुझे और मेरे ब्राह्मणत्व को जो जीविका के लिए चाकरी का शूद्रत्व स्वीकार किया !'

'भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
यो हि विश्वम्भरो देवो स भक्तान् किमुपेक्षते ॥'

पहिले कहीं सुना-पढ़ा यह श्लोक अचानक आपके मस्तिष्क में कौंध गया जिससे अदम्य उत्साह एवं जीविका की ओर से निश्चिन्तता घनीभूत

होने लगी। आपने अविलम्ब वेतनभोगी अध्यापकी छोड़ देने तथा भविष्य में कभी विद्या-विक्रय न करने का दृढ़ संकल्पकर लिया।

अपने निर्णय के अनुसार आपने गुरुकुल से त्यागपत्र दे दिया आपके हितैषी मित्रों ने जीविका की कठिनाइयों का चित्र खींचते हुए आपको विरत करने की बहुत चेष्टा की, परन्तु आप विचलित न हुए। जब कोई जीविका का प्रसंग चलाता तो झट आप उसी श्लोक 'भोजनाच्छादने..................किमुपेक्षते' को बड़े ही विश्वास के साथ उन्हें सुना देते थे।

× × × ×

[५]

आप गुरुकुल की सेवा से निवृत्त होकर अपने जन्म-स्थान किशनपुर चले गये। श्री बलवन्तसिंह जी त्यागा दतियाने में अब तक भी एक निजी संस्कृत-पाठशाला चला रहे थे जिसमें पहिले भी आप निःशुल्क अध्यापन कर चुके थे। आपकी सेवा-निवृत्ति का समाचार पाकर श्री बलवन्तसिंह आपके पास किशनपुर पहुँचे और फिर दतियाने चलकर पाठशाला में अध्यापन करने की प्रार्थना की। आपकी धारणा बन चुकी थी कि 'जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन', क्योंकि 'अन्नमयं हि मनः सौम्य.........' का रहस्य गुरुकुल की चाकरी से आप को प्रत्यक्ष हो चुका था। आजीविका के लिए—'उत्तम खेती मध्यम बान, निषिध चाकरी भीख निदान' की सारगर्भित तथ्य-पूर्ण लोकोक्ति आपने बचपन से ही सुनी तो थी, पर कभी गुनी नहीं थी। अब इसके गुनने (समझने तथा आचरण करने) का समय आ पहुँचा था। उधर अपने हितैषी श्री बलवन्तसिंह का आग्रह टालना भी कठिन था और मुक्तहस्त संस्कृत-विद्या-दान का प्रलोभन भी संवरण नहीं हो पा रहा

था। अतः आपने मध्य का मार्ग अपनाया और निर्णय किया कि घर में कृषि-कार्य कराकर आजीविकार्जन की जायेगी और साथ ही बच्चों को मुक्तहस्त निःशुल्क संस्कृत-विद्या का दान भी दिया जायेगा। तदनुसार आप दतियाने अध्यापन तथा बीच-बीच में किशनपुर आकर कृषिकार्य करने-कराने लगे।

दतियाने पढ़ाने का कार्य-क्रम अधिक दिन न निभ सका, क्योंकि आपके प्रथम शिक्षालय गुरुकुल सिकन्द्राबाद में योग्य अध्यापकों के अभाव में बड़ी अव्यवस्था हो चली थी और आप पर वहां का कार्य-भार संभाल लेने के लिए बड़ा दबाव पड़ रहा था। किसी प्रकार श्री बलवन्तसिंह त्यागी को समझा-बुझा कर आपने गुरुकुल सिकन्द्राबाद का कार्यभार इन अनुबन्धों के साथ संभाल लिया कि न तो आप वहां से कोई वेतन लेंगे और न आप वहाँ के कर्मचारी माने या समझे जायेंगे। निःशुल्क ही विद्या-दान करेंगे जिसके लिए उन पर कोई प्रतिबन्ध तथा आदेश-निर्देश नहीं थोपे जा सकेंगे।

जैसा कि पहले उल्लेख कर आये हैं, कनखल वास्तव्य श्री रामचन्द्र शर्मा वैद्य से आपकी अभिन्न आत्मीयता थी. अतः यदा-कदा उनसे मिलने आपका कनखल आना-जाना होता रहता था। जब भी आप कनखल जाते तो विद्यालय के अपने सभी सहयोगी-साथियों से यथा-योग्य प्रेमपूर्वक मिल आते।

आपने श्री पं० भीमसेन शर्मा (बाद में स्वामी भास्करानन्द) जी से साहित्य एवं व्याकरण का प्राथमिक अध्ययन किया था तथा श्री पं० काशीनाथ जी से प्रारम्भिक (प्राइमरी) शिक्षा पाई थी। इन दोनों का आप पितृतुल्य बहुत सम्मान करते थे। एक बार श्री पं० काशीनाथ जी अस्वस्थ हो गये। आपको जब यह समाचार मिला तो आप उन्हें उपचार एवं सेवा-सुश्रूषार्थं किशनपुर लिवा लाये। पत्नि के बिना गृहस्थी कैसी ? किसी भी रोगी की सेवा-परिचर्या क्या घर में

स्वगृहिणी रहे विना सहज संभव होती है ? आपने आयुर्वेद का तो अच्छा ज्ञान प्राप्त कर ही लिया था और निष्काम भाव से परोपकाराय ही नि:शुल्क औषधि-दान करने के कारण आपकी चिकित्सा प्राय: सफल होती थी, क्योंकि उसमें औषध के साथ-साथ आपका निष्काम तपोवल एवं सात्विक सदेच्छा भी काम करती थी, परन्तु पथ्य-पाक आदि की व्यवस्था करना भी तो एक समस्या होती है । परिवारीजन तो आपके परोपकारी एवं सेवाभावी कार्यकलापों को आपका एक व्यर्थ का जनून समझते थे, अतः सहयोग के स्थान पर उलटे विरोध करते थे ।

आपकी एक सहोदरा श्रीमती सुखदेवी थीं जो गाँव मकनपुर में विवाहित थीं । सहायतार्थ आपकी दृष्टि उनकी ओर गई और आप उनको किशनपुर लिवा भी लाये । परन्तु पराये धन विवाहित वहन-वेटी से कितने समय तक यह लाभ लेना संभव हो सकता था ? फलतः समस्या ज्यों की त्यों रही । लम्बी सेवा-परिचर्या के पश्चात् भी बुढ़ापे का क्या इलाज होता ? श्री पं० काशीनाथ जी तो परम-प्रयाण कर गये, परन्तु आपको परोपकार एवं लोकसेवा के लिए भी पत्नि की आवश्यकता अनुभव होने लगी ।

आप अब तक अनेकों संन्यासी, वानप्रस्थी एवं ब्रह्मचारियों के निकट सम्पर्क में आ चुके थे । अन्दर से नाना विधि वासनाओं की ज्वाला में जलते रहने पर भी घर-गृहस्थी का हठात् त्याग करने वालों की मनोदशा का आप अच्छा अध्ययन कर चुके थे, फलतः ऐसे निष्फल, विपर्यय परिणामी गृहत्याग में आप की कोई आस्था नहीं थी । 'यद हरेव तदैव परिव्रजेत' का शास्त्रीय आदर्श आपको हृदयङ्गम था । मित्रों-कुटुम्बियों का आग्रह तो विवाह कर लेने का वरावर था ही, पितृऋण चुकाने का प्रश्न भी विस्मृत नहीं हुआ था । गायत्री-जप से आपके मन का भार वहुत कुछ हलका होने लगा था । अन्तः प्रेरणा हुई कि अब विवाह कर लो तो पितृ-ऋण से उऋण तथा निस्सन्तान

रहने के दोष से भी मुक्त हो जाओगे। परन्तु आपकी अवस्था लगभग ५० वर्ष की हो चुकी थी। इस अवस्था में किसी चंचल षोडशी से विवाह-जन्य दूषणों की ओर से आप सचेत थे।

गायत्री-जप के प्रभाव का अनुभव कर आपको जपानुष्ठान पर विश्वास हो चला था। अतः आपने मनोनुकूल आज्ञाकारिणी ऐसी पत्नी की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान किया जिससे दूषणों की आशंका ही न हो पाये। स्वतः की विषयवासनायें तो थीं नहीं और सुतेषणा की पूर्ति के लिए सौन्दर्य का कोई उपयोग नहीं, अतः आपकी इच्छा ऐसी स्त्री से विवाह करने की थी जो भले ही सुन्दरी न हो, परन्तु चरित्रवान पतिव्रता अवश्य हो। अन्ततः संवत् १६८५ के लगभग वैरी (जिला-बुलन्दशहर) से सौभाग्यवती कलावती देवी के साथ आपका तीसरा विवाह भी सम्पन्न हो गया। उस समय आप गुरुकुल सिकन्द्राबाद में अध्यापन करते थे और यह विवाह भी किशनपुर से ही किया गया।

उन दिनों स्वतन्त्रता-संग्राम उभार पर था। देश में प्राण फूँकने के लिए, मातृभूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए, अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले भारतीय वीरों की गाथायें यत्र-तत्र-सर्वत्र गाई-सुनाई जाती थीं। सभी समझदार भारतीयों में आजादी के लिए कुछ-न-कुछ करने-कराने का उत्साह उमंग थी। संसार के प्रति रागहीन होते हुए भी आप—'वह हृदय नहीं है, पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं'—से पूर्णतया सहमत थे। ऐसे उपयुक्त अवसर पर आपने वीरशिरोमणि मातृभूमि की स्वतन्त्रता के दीवाने महाराणा प्रताप की वीरता-पूर्ण चरितगाथा की छन्दबद्ध संस्कृत काव्य के रूप में रचना की जिसका नाम 'प्रतापचम्पू' रक्खा। इस 'प्रतापचम्पू' काव्य की संस्कृत के विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसे भी 'मुनिचरितामृत' की भाँति 'महाकाव्य' स्वीकार किया गया और शिक्षा-विभाग ने उच्चश्रेणियों के पाठ्यक्रमों में पाठ्य-

पुस्तक के रूप में इसका निर्धारण किया जो यत्र-तत्र अब तक चला आ रहा है।

आर्थिक कठिनाई के कारण लिखने के बाद अब 'प्रतापचम्पू' के मुद्रण तथा प्रकाशन की समस्या खड़ी हुई। आपके कुछ साथियों ने परामर्श दिया कि महाराणा के वंशज जयपुर, जोधपुर, मेवाड़ आदि राजस्थानीय राजा-सामन्तों एवं जागीरदारों को इसे प्रकाशित कराने का व्यय देने के लिए प्रेरित किया जाय। तदनुसार पाण्डुलिपि भेजकर मुद्रण कराने के प्रस्ताव भेजे गये। एक तत्कालीन राणा साहब ने 'प्रताप-चम्पू' से प्रभावित होकर केवल इसके मुद्रण का व्यय ही नहीं, वरन् लेखक (आप) को आजीवन गृहस्थी के निर्वाह योग्य पर्याप्त पुष्कल धन-राशि देने का भी प्रस्ताव रक्खा। इस सब के बदले उन राणा साहब ने छोटी-सी, बिल्कुल नगण्य, स्वअभिलाषा प्रकट की कि काव्य में किसी महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा के प्रसंग में उनके पूर्वजों से उन तक का समावेश भी कर दिया जावे।

आप यदि चाहते तो बड़ी आसानी से 'प्रतापचम्पू' में ४-६ या १०-२० छन्द जोड़कर जीवन भर के निर्वाह के लिए पर्याप्त पुष्कल धनराशि प्राप्त कर सकते थे। पर वाह रे धन की वासना से अछूते सच्चे सन्तोषी ब्राह्मण ! जब राणा साहब ने अपनी यह अभिलाषा आपके समक्ष प्रकट की तो आपने उनको वह झाड़ बताई, वह लताड़ लगाई कि पैसे से ब्राह्मणत्व को खरीदने की चेष्टा करने वाले राणा-पद और धन के मद में चूर राणा जी को छठी का दूध याद आ गया। राणा जी ने अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी और 'प्रतापचम्पू' के प्रकाशन का व्यय भेंट किया तो आप गम्भीर होकर गरजे—'आप सरीखे अर्थ-पिशाच के धन से प्रकाशित करके मैं महाराणा प्रताप की धवल कीर्ति-गाथा को कलंकित और सरस्वती के कृपा-प्रसाद को कलुषित नहीं करना चाहता। आप अपना धन अपने ही पास रक्खें,

में इस का स्पर्श भी नहीं करूंगा।' येन-केन-प्रकारेण 'प्रतापचम्पू' का प्रकाशन तो हो गया और पाठ्य-पुस्तक हो जाने के कारण बाद में भी कई बार हुआ, पर आर्थिक अभाव के कारण आपके शेष दो ग्रन्थ 'ऋतु-वर्णन' तथा 'योगरतन' अद्यावधि अप्रकाशित ही रह गये। 'प्रतापचम्पू' की घटना के बाद आपने कभी, किसी से प्रकाशन-व्यय देने का प्रस्ताव ही नहीं किया।

आपके जीवन की अनेकों गाथाओं में से यह एक ही आपके त्याग, विवेक, निर्लोभ एवं ब्राह्मणत्व पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। आपके अनेकों धनसर्वस्व-हितैपियों ने आपके इस त्याग की आलोचना की और इसे स्वत: घर आती हुई लक्ष्मी का अपमान करना बताया, पर आप तो सचमुच ब्राह्मण थे, और—'औरन को धन चाहिये बावरि ब्राह्मण को धन केवल भिक्षा !' आपकी अन्तरात्मा इस त्याग से और भी निर्मल एवं तृप्त हो उठी। ज्यों-ज्यों आपका चित्त निर्मल होता जाता था, त्यों-त्यों आप में करुणा, भक्तवत्सलता, परोपकारपरायणता, विरक्ति, उदासीनता, आत्मरति एवं भगवद्‌निष्ठा भी बढ़ती जाती थी। आप की आध्यात्मिक भूमिका परिपक्व होती जा रही थी परन्तु साथ ही गृहस्थ का भार एवं आजीविका की समस्या भी बढ़ती जाती थी।

अनुष्ठान पर विश्वास के अनुसार आपकी तीसरी भार्या सर्वतो-भावेन आपके मनोनुकूल मिली थीं जिन में समाधिस्थों जैसी शान्ति, शिशुओं जैसी सरलता, अवधूतों जैसी निस्पृह उदासीनता, ऋषियों जैसा आर्जव, यतियों जैसी भोग-विरक्ति एवं कृष्णद्वैपायन जैसा वर्ण था। कहना चाहिये कि आपकी इस समय तक की समस्त आध्यात्मिक साधनोपलब्धियाँ एकीभूत मूर्तिमान् होकर पत्नि के रूप में आपके सामने आ उपस्थित हुई थीं। संवत् १९८६ में इनसे आपको एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई जिसका नाम रोहिताश्व' रक्खा गया। यों तो पहिले

भी दोनों पत्नियों से आपको एक-एक पुत्र की प्राप्ति हुई थी, पर इस वार अन्त:करण की आवाज थी कि पूर्ववत् दो वार की भाँति इस वार नहीं होगा, अत: आप पितृ-ऋण से अपने को उऋण हुआ अनुभव कर रहे थे। वासना चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, अन्तत: वासना ही है और अन्त:करण का मल है। इसकी विवेकपूर्ण तृप्ति अथवा त्याग से शान्ति, आनन्द का अनुभव सहज स्वाभाविक है जो आपको भी हुआ।

आप गुरुकुल सिकन्द्रावाद में नि:शुल्क अध्यापन करते थे। वहां के अधिकारी वहुत आग्रह करते, पर आप कोई वेतन नहीं लेते थे क्योंकि विद्या-विक्रय को आप ब्राह्मण के लिए पाप मानते थे। कोई-कोई छात्र भेंट रूप में यदि कुछ देता तो आप पहिले उस छात्र की आर्थिक स्थिति पर विचार करते और तव, यदि उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती तो ले लेते अन्यथा बड़े स्नेह से वापिस लौटा देते थे। यों तो छात्रों में आपकी समदर्शिता प्रसिद्ध थी तथापि जो जितना ही अधिक दरिद्र सद्गुणी छात्र होता, वह उतना ही अधिक आप से कृपा एवं स्नेह प्राप्त करता था। किशनपुर में कृषि-कार्य होता था, परन्तु एक तो उससे आय ही अत्यल्प होती थी, दूसरे आपके भाई-भतीजे उसमें से आप को कुछ दे नहीं पाते थे क्योंकि वे आपकी नि:शुल्क अध्यापन, सन्तोष एवं त्याग की प्रवृत्ति के घोर विरोधी थे, इस सव को कोरा पागलपन समझते थे और आप स्वयं कृषि में उनके साथ जुटकर शारीरिक श्रम भी नहीं कर पाते थे। गुरुकुल एवं किशनपुर में लगभग ८ मील का फासला होने के कारण विद्या-दान एवं कृषि कार्य दोनों होने सहज संभव नहीं थे। विवाह के पश्चात् एक से दो तथा पुत्र-जन्म के वाद आप दो से तीन तो हो ही गये थे और अभी न जाने कितना लम्बा गृहस्थ-जीवन सामने आना था, अत: आपके सभी सगे-सम्बन्धियों, हितैषी मित्रों, सहयोगी अध्यापकों एवं भक्त शिष्यों को आपकी आजीविका की चिन्ता थी। सभी चिन्तित थे कि इस प्रकार

की आकाशी वृत्ति से इनकी गृहस्थी का कब तक निर्वाह हो सकेगा, अतः किसी प्रकार स्थाई नियत नियमित आय का प्रबन्ध होना अनिवार्य आवश्यकता थी। तब किसी प्रकार गुरुकुल के प्रबन्धकों ने बड़ा ही आग्रह करके आपको ३०) मासिक भेंट रूप में स्वीकार करने के लिए इतनी विनयपूर्वक मनाया कि आपको स्वीकार करना पड़ा।

आपके चरित्र की यह विशेषता थी कि आपको अपनी चिन्ता तो नाम मात्र को भी नहीं थी, सदैव दूसरों के ही हित-चिन्तन एवं साधन में आप का समय व्यतीत होता था। इसका प्रतिफल यह हुआ कि आपकी चिन्ता करने वाले अनेकों क्या, प्रायः सभी परिचित हो गये। जब भी आपके हितैषी आप से आजीविका का प्रसंग चलाते तभी आप बड़ी निष्ठा, श्रद्धा एवं विश्वास के साथ—'भोजनाच्छादने ·········· किमुपेक्षते' को गाने लगते मानों यही श्लोक आपकी आजीविका का अजस्र स्रोत एवं भगवद्निष्ठा का उद्गम हो। अभाव-ग्रस्त रहते हुए भी आपको इस अभाव से ग्लानि अथवा कष्ट का अनुभव कभी नहीं होता था, वरन् सदैव ही इस अभाव को आप पूर्ण-भाव की प्राप्ति का ईश्वरप्रदत्त रामबाण साधन समझते थे और इसी में तृप्त एवं प्रसन्न रहते थे। सौभाग्य से आपकी पत्नि इन सब भाव-अभावों की भावनाओं से अछूती, आपकी सन्तुष्टि में सन्तुष्ट, प्रसन्नता में प्रसन्न, प्रवृत्ति में प्रवृत्त एवं निवृत्ति में निवृत्त, न जाने केवल पतिव्रता थीं या परमहंस भी, जो आपको आपके अभष्टी मार्ग पर अधिकाधिक अग्रसर होने में सहायक ही नहीं, आत्मानुरक्ति की चरम सीमा तक पहुँचने की खुली सुविधायें भी दे रही थीं।

सांसारिक धन-वैभव छाया की भांति अपने से विरक्त-विमुख होकर चलने वाले महापुरुष के पीछे-पीछे दौड़ते हैं और अपने अभिमुख-अनुरक्त के आगे-आगे मृग-मरीचिका बनकर उसकी प्रवंचना में रत रहते हैं। आप अन्तःकरण से सांसारिक धन-वैभव का परित्याग कर सर्व-

तोभावेन विश्वासपूर्वक ईश्वरशरणागत एवं आत्म-कल्याणरत होते जा रहे थे, अतः माया मुंह मटकाकर ही रह जाती थी, उसके हाथ आप का कुछ भी नहीं पड़ पाता था। प्रकाश के अभावरूप अन्धकार में अपनी छाया तक भी अपना साथ छोड़कर अन्धकार रूप होकर ग्रसने लगती है, परन्तु लक्ष्मी की चकाचौंध के अभाव रूप अन्धकार में तत्व-जिज्ञासु 'कोटिसूर्य समप्रभा' से तादात्म्य करते-करते तद्रूप हो जाता है और यही आपके सम्बन्ध में भी हो रहा था।

सुरदुर्लभ मानव-जीवन का मूल्य एवं उद्देश्य आप भली भाँति जान गये थे। भावी जन्म मनुष्य का मिले, न मिले, किस रूप में कब कहाँ मिले, अतः इसी जन्म में जीवनमुक्ति तक जा पहुंचने का आपने दृढ़ संकल्प कर लिया था। शुभ्र वस्त्र पर कोई-सा भी रंग डाला जाय, वह उसी को शीघ्र एवं पूर्णतया आत्मसात करके तद्रूप हो जाता है। वैसे ही आपका शुद्ध-शुभ्र अन्तःकरण शीघ्र ही आप के संकल्प के अनुरूप बन जाता था और तन, मन, प्राण के समस्त क्रिया-कलाप भी तदनुरूप ही होने लगते थे। आप किसी समर्थ योगी गुरु की खोज में थे जिनके कृपा-प्रसाद से जीवन्मुक्ति सुनिश्चित सहज सुलभ हो सके और पारमार्थिक भावनाओं के उद्रेक से नित्य निरन्तर बढ़ती हुई ज्ञान-पिपासा की तृप्ति हो जाय।

श्री कृपाशंकर जी शास्त्री वैद्य प्रायः अपने रोगियों की देख-भाल के लिए उधर आते-जाते रहते थे और अपने शिक्षा-गुरु श्री उपाध्याय जी के दर्शन करते रहते थे। आपने उनसे उत्तराखण्ड के एक सुप्रसिद्ध योगाचार्य की महानता सुनी एवं उनका परिचय प्राप्त किया। साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि ये योगाचार्य इस समय अपने स्थान स्वर्गाश्रम में नहीं हैं, कहीं इतस्ततः भ्रमणार्थ पधारे हुए हैं। अतः आपने श्री शास्त्री जी को उनका ठीक-ठीक पता लगाने के लिए कहा। आप अब तक के जीवन में अनेकों वाह्याडम्बरी अन्तःशून्य ब्रह्म-

चारी, संन्यासी एवं नामधारी योगियों के सम्पर्क में आ चुके थे जिनमें आपको ढोल की पोल के अतिरिक्त कोई सार नहीं मिला था, अतः आपने श्री शास्त्री जी को यह निर्देश भी दिया कि पहले वे स्वयं उन योगाचार्य महाराज का भली-भांति निरीक्षण-परीक्षण करें और उचित जँचे तो शिष्यत्व ग्रहण करके उनकी कृपाजन्य अपनी उपलब्धियों-अनुभूतियों से भी आपको अवगत करायें ताकि यदि कुछ सार हो तो उसकी प्राप्ति हेतु शिष्यत्व स्वीकार किया जाये। यह बात सन् १६३३ की है।

श्री शास्त्री जी विद्या-गुरु और इससे भी अधिक धर्मप्राण ब्राह्मणत्व के नाते आप का बहुत सम्मान करते थे। अतः आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर, तदनुसार ही सब कुछ पूरा करके जब श्री चरण योगाचार्य गाजियाबाद पधारे तो आपको सब वृत्तान्त एवं स्वानुभूतियां निवेदन कर योगाचार्यचरण के दर्शन करने एवं शिष्यत्व ग्रहण कर लाभान्वित होने के लिए प्रेरित किया। तभी आपने श्री १०८ योगानंद ब्रह्मचारी जी से शक्तिपात दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपकी अवस्था लगभग ५५ वर्ष की थी और परिवार में आप, आप की पत्नी एवं एक पुत्र,—कुल तीन ही प्राणी थे। यह बात सन् १६३४ के प्रारम्भ की है।

× × × ×

[६]

पहिले उल्लेख हो चुका है कि शक्ति-जागरण के पश्चात् विधिवत् दीक्षा-संस्कार सम्पन्न कराने हेतु आप स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) में गुरु-स्थान पर पहुँचे और वहाँ राजा प्रताप विक्रमशाह, सिंगाही, की गङ्गा-तट पर बनी कोठी में रहे। इस स्थान की छटा बड़ी दिव्य, मनोरम, शान्तिप्रद, साधन के अनुकूल स्वतः ध्यानदायक थी। आपको नित्य निरन्तर दिव्य अलौकिक अनुभव होते थे। प्रातः ३-४ बजे के मध्य

कोई वाणी आपका उद्बोधन करती थी—'उठो, साधन में बैठो ! उठो, साधन में बैठो !!' कदाचित् प्रमादवश या परीक्षण हेतु आप वाणी का अनुसरण न करते तो फिर दो अप्रत्यक्ष हाथ बड़े धीरे से आपके शिर व पीठ के नीचे सहारा देकर आपको शैया पर बैठा देते थे जिनके स्पर्श में परम वात्सल्य एवं गहन आत्मीयता की अनुभूति होती थी।

आप शैया से उठकर अन्धेरे में ही झाड़ी-झंकड़-कंकड़ाकुल मार्ग पर सर्प-वृश्चिकादि संकुलित जङ्गल में शौच-निवृत्ति के लिये निर्भीक चले जाते तो आपको आभास होता कि किसी दिव्य शक्ति का प्रकाश, जो ध्यान से देखने की चेष्टा करते ही अदृश्य हो जाता है, आपके मार्ग की सब विघ्न-बाधाओं को हटाकर सतत् आपका संरक्षण करता है और यदि विषैले घातक जीव आदि हों तो उस प्रकाश को देखते ही दूर हट जाते हैं। शौचादि से निवृत्त होकर आप साधन में बैठ जाते और क्रिया-शक्ति के वेग में ऐसे खो जाते कि समय का भान ही नहीं रहता था। जब श्री गुरुचरण स्वयं पुकारते तभी आपकी योगनिद्रा भंग होती।

दोनों ओर उत्तुङ्ग गिरिशृङ्गों के मध्य धरित्री के भाल पर खिची हुई शुभ्र सौभाग्य रेखा-सी कल-कल-निनादिनी भगवती भागीरथी कोठी के समीप से ही अपने दिव्य भव्य रूप में प्रवाहित हो रही हैं। नित्यकर्म से निवृत्त होकर, शान्त-एकान्त गङ्गातट पर ध्यानानुरागी साधकों का परस्पर स्पर्द्धा-पूर्ण स्वागत करते हुए अगणित शिलाखण्डों में से किसी एक पर आप प्रायः अकेले ही जा विराजते और ऐसे ध्यानस्थ होते कि सिद्ध ध्यानियों को भी आपका ध्यान रखना पड़ता था। गंगा जी की शीतलता आप में प्रविष्ट होती चली जा रही थी जिसके प्रसाद ने आर्यसमाजी संस्कारों का प्रक्षालन कर आप को गंगा-निष्ठ बना दिया,—गायत्री-निष्ठ तो आप बन ही चुके थे। आपको माँ

गंगा के प्रति अनिर्वचनीय सहज आकर्षण हो गया जो आजीवन अक्षुण्ण वना रहा और गंगा जी की पापहारी मुक्तिदायिनी शक्ति में दृढ़ आस्था हो गई।

श्री गुरुचरण-सानिध्य में अल्पकालीन निवास ने ही आपको योग-सिद्धि का आभास, मुक्ति का विश्वास एवं जनकल्याण का निश्वास प्रदान कर शिव-भावापन्न गुरुपद पर प्रतिष्ठित कर दिया। समर्थ गुरु-चरण-रज-प्रसाद एवं षट्सम्पत्ति के स्वामी अधिकारी शिष्य की शरणागति से ऐसा होना कोई नई या आश्चर्य की वात नहीं है। आपकी साधन-भूमिका विल्कुल तैयार थी, अतः समर्थ गुरु द्वारा तीव्र शक्ति-संपात होते ही कोई भी उपलब्धि असंभव नहीं थी। आप गुरु की आज्ञा होने पर स्वर्गाश्रम से अपने मित्र श्री रामचन्द्र शर्मा वैद्य के पास कनखल पहुँचे और गुरुकुल के सभी परिचित सहयोगियों से भी स्नेह पूर्वक मिले। सभी ने इस वार आप में एक अभूतपूर्व आभा, विचित्र परिवर्तन, दिव्य आवेश एवं यदा-कदा अपरिचित मनोन्मनी अवस्था को परिलक्षित किया, परन्तु गूँगे के गुड़ की भाँति चुपचाप गुरु-प्रसाद का आनन्द लेते हुए आपने किसी पर कुछ प्रकट नहीं किया। हां, अपने हितैषी मित्र श्री रामचन्द्र शर्मा को पात्र समझकर कुछ संकेत भर अवश्य दे दिया।

× × × ×

[७]

शक्तिपात दीक्षा ने आपके जीवन में अन्तःवाह्य आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। तत्वज्ञान का दीक्षा-वपित बीज सर्वथा उपयुक्त अनुकूल पात्र में वड़ी तेजी से वृक्ष वनकर लहलहाता चला जा रहा था और आप अधिकाधिक समाहित होते जा रहे थे। भगवान आदि शंकराचार्य योगतारावली में लिखते हैं—

'उन्मन्यवस्थाधिगमायविद्वन्,
उपायमेकं तव निर्दशामः ।
पश्यन्नुदासीनतया प्रपञ्चं,
संकल्प मुन्मूलय सावधानः ॥'

आप तो दीक्षा के पूर्व से ही उदासीन एवं निस्संकल्प रहने के अभ्यस्त थे, परन्तु शक्ति-जागृति के अभाव के कारण उन्मनी अवस्था और उसके प्रसाद से परिचित नहीं थे। अब आप उन्मनी के प्रसाद का आस्वादन करने लगे थे।

जब भी आप एकान्त में होते, जाने-अनजाने में उन्मनी-अभिभूत हो जाते। गुरु से प्राप्त शक्ति-मंत्र को आपने रजत-पत्र पर अङ्कित करा लिया था और नित्य नियम से साधन में बैठकर उसका जप, पूजन, अर्चन करते थे। आपका विश्वास था कि यह मंत्र ही गुरु-शक्ति-रूप है और इसीके प्रताप से यह सब आध्यात्मिक उपलब्धि हुई है और आगे भी पूर्णतया होगी। यद्यपि शक्तिपात दीक्षा में दीक्षित साधक के लिए नियत समय पर नियमित रूप से अधिकाधिक क्रिया-साधन में बैठने के अतिरिक्त अन्य किसी भी कर्मकाण्ड या पूजा-पाठ का विधान नहीं है, वरन् निषेध ही है, पर आप तो अपने अनेकों शिष्यों के आदर्श थे, अतः लोकसंग्रह के लिए ही, अनावश्यक समझते हुए भी, कर्मकाण्ड एवं पूजा-पाठ में आजीवन तत्पर रहे। वर्ष के दोनों नवदुर्गों में आप विशेष रूप से विधिवत् व्रत रखते, पूजा-पाठ-हवन आदि करते एवं देवी भगवती के प्रतीकरूप कन्या-लांगुराओं को स्वयं जिमाया करते थे। जीवित रहते आपका यह क्रम चलता ही रहा।

अब आप गुरुकुल के छात्रों का निःशुल्क अध्यापन करते थे और छात्रों के अध्ययन के लिए अपना द्वार अहर्निश खुला रखते थे। किशन-

पुर जाकर कृषि-कार्य की देखभाल करते-कराते थे एवं परोपकारार्थ निःशुल्क औषध-वितरण तथा चिकित्सा करते थे। इसके अतिरिक्त आपत्तिग्रस्त के संकट निवारणार्थ उपयुक्त जप-पाठादि अनुष्ठान करने-कराने मेंभी आप प्रवृत्त होते थे, क्योंकि आपने ज्योतिष-ग्रन्थों का अध्ययन करके इसकी भी अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी। अध्यापन, औषध-वितरण, चिकित्सा तथा पूजा-पाठ आपकी आय के साधन न होकर केवल परोपकारार्थ निष्काम कर्म ही थे। जीविका का निर्वाह केवल कृषि की आय से ही होता था जो अत्यल्प अपर्याप्त थी। आप की मनःस्थिति एवं शारीरिक क्षमता स्वयं लग-लिपटकर कृषि-कार्य करने योग्य नहीं थी, अतः कृषि से आय का बढ़ना भी सम्भव नहीं था।

दीक्षा के २ वर्ष उपरान्त संवत् १९९२ में आपको द्वितीय पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई जिसका नाम 'रमेश' रक्खा गया। इसके पश्चात् संवत् १९९६ में एक कन्या ने जन्म लिया जिसका नाम आपने 'वेदवती' रक्खा। इस प्रकार गृहस्थ का व्यय बढ़ाव पर था, पर आय का साधन उतना ही सीमित था। आप तो अन्तराराम उपराम होने के कारण निश्चिन्त थे, आपकी पत्नि भी शायद पूर्वजन्म से ही निरपेक्षता, उदासीनता की गतव्यथः-सिद्धि लेकर आई थीं, परन्तु अन्य सभी स्वजनों को आपकी बड़ी चिन्ता रहती थी और यथाशक्ति सभी सहायता करने को भी उद्यत रहते थे। कठिनाई यह थी कि आप परिग्रह से कोसों दूर भागते थे और जहां अपना स्वत्व या औचित्य नहीं समझते थे, वहां कुछ भी स्वीकार करने से दृढ़तापूर्वक साफ इनकार कर देते थे। रूखा-सूखा खाने, मोटा-झोटा पहिनने, आधा पेट या निराहार तक रहने में प्रसन्न एवं सन्तुष्ट, पर परिग्रह या ऋण का विषतुल्य परित्याग,—यही आपके जीवन की अकथनीय गाथा थी।

आपकी आर्थिक दशा से जहां सब परिचितवर्ग चिन्तित था, वहीं

श्रीगुरुचरण भी इस ओर से निश्चिन्त एवं सन्तुष्ट नहीं थे। एक ओर तो अपने शिष्य की त्याग, तपःनिष्ठा से वे हर्षातिरेक में प्रफुल्लित होते थे, पर दूसरी ओर गृहस्थी का विचार करके चिन्तित भी होते थे। लोक में धन-सम्पदा के पूर्ण भौतिक भाव में भी अन्तः-तृप्ति के अभाव में रोते-पीटते तो उन्होंने अनेकों को देखा-सुना था, पर भौतिक सम्पदा, यहां तक कि आजीविका तक के पूर्ण अभाव में आत्म-तृप्ति के पूर्णभाव के कारण ही सदा-सन्तुष्ट, शान्त एवं प्रफुल्लित उन्होंने भी किसी विरले बड़भागी को ही देख पाया था। भक्तवत्सल श्री गुरुदेव ने पत्र में संकेत दिया—'आपको शिवगुरु ने वह दिव्यमणि दी है जिसके प्रकाश-कण से ही चाहें तो समस्त भौतिक अभाव निरस्त हो सकते हैं, फिर भी आप अपने को संसार से अज्ञात रक्खे हुए जीविकाभाव की कुण्ठा क्यों वहन कर रहे हैं?'

श्री गुरुदेव के उपरोक्त संकेत के उत्तर में आपने निवेदन किया —'श्री चरण-रज के प्रताप से कृतार्थ हुआ। अब और कुछ पाने-त्यागने से बचा रहूं, यही विनय है—

अब जनि कछुक चाहिये मोरे।
दीनदयाल अनुग्रह तोरे॥
अब प्रभु कृपा करहु यहि भांती।
सब तजि भजन करहुं दिन राती॥
प्रभु करि कृपा देहु वर एहू।
निज पद सरसिज रूहज सनेहू॥'

दिव्यानन्द की लोकोत्तर शान्ति में मग्न उन महाभाग से भला और किस उत्तर की आशा की जा सकती थी?

आपने कई परिचितों को शक्तिपात दीक्षा से अनुग्रहीत किया, पर इस बात की पूरी-पूरी सतर्कता बरती कि कहीं दीक्षा-संभूत गुरुत्व के मूल में अर्थलिप्सा अथवा जीविकार्जन की भावना घुसपैठ न कर जाय। इस भावना के प्रति सतर्कता के रूप में आपने स्वयं तो कभी किसी शिष्य से कोई अपेक्षा अथवा किसी भी प्रकार की कोई भी आकांक्षा की ही नहीं, साथ ही जो सेवा-भेंट शिष्यजन प्रसन्नता से अर्पण करते थे, उसमें से भी आप शिष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक स्थिति का विचार-विवेक करके यथास्थिति अत्यल्प नाम मात्र ही स्वीकार करते अथवा सस्नेह पूरी की पूरी ही वापिस कर देते थे।

आपके शिक्षा-शिष्य तो अनेकों थे ही, वैद्य के रूप में औषध तथा मन्त्रज्ञ ज्योतिषी के रूप में जप-पूजा-पाठ आदि द्वारा आपसे उपकृत हुए लोगों की संख्या भी बहुत बढ़ चली थी। अब दीक्षित शिष्य भी इस संख्या में वृद्धि करने लगे थे। इस प्रकार आपके परिचितों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी जो सभी के सभी आपका हार्दिक सम्मान करते तथा आप में श्रद्धा, भक्ति रखते थे। सभी आपकी अपरिग्रही प्रवृत्ति, निष्काम परोपकारी दयालु स्वभाव, सर्वविद्या-निष्णात व्यक्तित्व एव संकल्पशक्ति से परिचित थे और यही सद्गुण आपके प्रति उन सब की श्रद्धा, भक्ति के आधार थे।

किशनपुर में एक श्री रामकला शर्मा रहते थे। पूर्वजन्म के संस्कार तथा इस जन्म में किये जा रहे मन्त्र-जप आदि के प्रभाव से उनकी कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान हो गया। वे कुण्डलिनी शक्ति के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे और इसके उत्थानजन्य क्रियाकलापों से सर्वथा अनभिज्ञ थे, पर उन सब में उन्हें कोई कष्ट नहीं, वरन् बड़े आनन्द एव परमकल्याण का आभास होता था। हठात् एवं बलात् होने वाली नाना विधि शरीर तथा प्राण की क्रियाओं को उनके घर वाले किसी भूत-पिशाच का झपटा या उत्पात समझ बैठे। तदनु-

सार स्याने तथा ओझे उपचारार्थ जुटाये गये, पर उनसे होना क्या था ? दैवी कुंडलिनी शक्ति का स्याना तो कोई शक्तिसम्पात द्वारा वेध दीक्षा देने में समर्थ सद्गुरु ही हो सकता था। जब स्याने-ओझों से कुछ न बना तो डाक्टरों-वैद्यों के उपचार भी कराये गये, पर सब व्यर्थ ! कुंडलिनी के क्रिया-कलापों का उपचार तो शक्ति-संचालन एवं निग्रहानुग्रह में समर्थ कोई भव-वैद्य ही कर सकता था। स्याने, ओझा, डाक्टर तथा वैद्य किसी के उपचार से जब कुछ न हुआ तो श्री रामकला शर्मा को अन्तःप्रेरणा हुई—'घबराओ नहीं ! यह कोई रोग नहीं वरन् भवरोग का शमन करने वाली महौषध है, तभी तो तुम्हें कोई कष्ट नहीं, वरन् आनन्द हो रहा है। इसके किसी जानकार के पास जाओ !'

श्री रामकला जी ने आपके कोई योगी गुरु बनाने और योग-साधन करने के विषय में सुन रक्खा था, अतः वे आप के पास आये और अपना हाल सुनाने से पहिले ही क्रिया-वेगाक्रान्त हो गये। आपने लक्षणों से समझ लिया कि कुंडलिनी-जागरण होने से ही उन्हें यह सब कुछ हो रहा था। आपने उन्हें विधिपूर्वक दीक्षा देकर उनकी क्रियाओं को नियमित एवं परिष्कृत कर दिया और विस्तार से सब कुछ समझा-बता भी दिया। इस प्रकार आपने सर्वप्रथम एक रोगी को योगी में परिवर्तित कर शक्तिपात दीक्षा देना प्रारम्भ किया। कुछ समय बाद आपने श्री रामकला शर्मा को शक्तिपात दीक्षा देने का अधिकार भी प्रदान कर दिया।

आपके मित्र श्री रामचन्द्र शर्मा वैद्य, जिन्हें आप बड़ा भाई मानते थे, की प्रथम पत्नि का शरीर पूरा हो गया था। प्रथम पत्नि से आपके एक पुत्र विष्णुदत्त थे जो बचपन से ही प्रायः रोगी रहते थे और उनके जीवित रहने का कोई भरोसा नहीं होता था। श्री वैद्य जी के आप से सम्मति लेने पर आपने उन्हें आत्मनिरीक्षण करने की सलाह दी और

अपने विचार स्पष्ट कर दिये कि यदि आजीवन पूर्णतया संयम एवं ब्रह्मचर्य का निर्वाह न किया जा सकता हो और भोग-वासना की तृप्ति के लिए मानसिक या शारीरिक रूप से इतस्ततः भटकना पड़े तो हर दशा में विवाह कर लेना ही श्रेयस्कर होगा। श्री वैद्य जी की मानसिक तथा उनके पुत्र की शारीरिक दशा का विचार-विवेक करते हुए आपने उन्हें दूसरा विवाह कर लेने की ही सलाह दी और श्री वैद्य जी ने दूसरा विवाह कर लिया। वाद में आपने श्री वैद्य जी को शक्तिपात दीक्षा भी देकर अनुग्रहीत किया। श्री वैद्य जी की द्वितीय पत्नि ने भी दीक्षा देने की प्रार्थना की, पर आप ने परस्पर देवर-भाभी के सम्बन्ध में गुरु-शिष्य जैसी अभीष्ट श्रद्धा-भक्ति का अभाव परिलक्षित करके उन्हें स्वयं दीक्षा देना उचित नहीं समझा और श्री गुरुचरण से दीक्षा दिलवाई। आप वैद्य जी के पुत्र विष्णुदत्त को भी रोग-निदान हेतु श्री गुरुचरणों में ले गये और उसको भी रोग-निवारणार्थ दीक्षा दिलवाई।

आपके परिचितों की संख्या तो बढ़ ही रही थी, लोकेषणा से रहित होने पर भी आपकी ख्याति बढ़ रही थी। अतः कोई किसी हेतु से तो कोई किसी हेतु से, अनेकों लोग आपके दर्शनार्थ आते-जाते थे। जब आप गांव में किशनपुर होते तो दनकौर स्टेशन से आप के दर्शनार्थ वहां तक जाने में भक्त शिष्यों को वड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। दूसरे, गांव में खेती इतनी कम थी कि पूरे कुटुम्ब का भरण-पोषण नहीं हो पाता था और तीसरे विद्या-दान का कार्य गुरुकुल के समीप स्थाई निवास होने पर ही अवाधगति से यथेष्ट किया जा सकता था। इन सब बातों पर विचार करके आपने गुरुकुल के आस-पास ही कुछ कृषि योग्य भूमि लेकर वहीं मकान बनाने का निश्चय किया। आपके संकल्प की ही तो देर थी, फिर कार्य होने में भला क्या देर लगती ?

गुरुकुल के समीपस्थ गाँव खेरली हाफिजपुर के जमींदार श्री ला०

श्यामलाल जी बड़ी धार्मिक एवं सात्विक प्रकृति के सज्जन थे। पास ही मण्डी श्यामनगर में उन का एक लोहे का कारखाना भी चलता था और वे सम्पन्न व्यक्ति थे। वे आपके आध्यात्मिक गुरु-स्वरूप से तो परिचित नहीं थे, पर आपकी अन्य विश्रुत ख्यातियों एवं सद्‌गुणों के कारण आप में श्रद्धा अवश्य रखते थे। श्री रामकला शर्मा तथा अन्य एक-दो सज्जनों के द्वारा जब आपका यह विचार उन तक पहुंचा तो वे तुरन्त आपको अभीष्ट कृषि-भूमि देने को तैयार हो गये। आप परिग्रह तो करते ही नहीं थे, अतः मूल्य देकर भूमि लेना स्वीकार कर लिया और लगभग ४००) में २५ बीघा भूमि ले ली जो खेरली हाफिजपुर में गुरुकुल के पास ही थी।

इस भूमि में श्री रामकला शर्मा के प्रयत्न एवं सहयोग से आपने कृषि करना प्रारम्भ कर दिया। श्री श्यामलाल जी ने किसी व्यक्ति को ५०) या १००) में खेरली हाफिजपुर में मकान बनाने के लिए भूमि दी थी। उस भूमि में भूत-बाधा का अनुभव करके वह व्यक्ति श्री श्यामलाल जी से आग्रह कर रहा था कि वे रुपये लौटा दें और भूमि वापिस ले लें। श्री श्यामलाल जी इसके लिए तैयार नहीं हो रहे थे। आपने उसके रुपये लौटाकर उस भूमि को स्वयं ले लिया और वहीं अपना मकान बनवाकर उसी में सपरिवार रहने लगे। बाद में आपने श्री श्यामलाल जी से २५ बीघा भूमि और ले ली थी। इस प्रकार आपके पास कुल लगभग ५० बीघा (कच्चे) भूमि थी जिसमें से येनकेन प्रकारेण जीविका मात्र ही निकल पाती थी, क्योंकि एक तो सिंचाई का कोई साधन न होने के कारण फसल का होना न होना अनुकूल-प्रतिकूल आसमान पर निर्भर था, दूसरे उत्तरोत्तर योग की उच्च भूमिका पर मनःस्थिति के कारण शारीरिक श्रम आपके वश का नहीं था।

आपने श्री श्यामलाल जी, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती ठानोदेवी, पुत्री

श्रीमती लीलावती (देहली), श्रीमती विद्यावती तथा श्रीमती जनक-नन्दिनी को दीक्षा देकर अनुग्रहीत किया। ये सभी श्री श्यामलाल जी के ही सम्बन्ध से आपके सम्पर्क में आये। श्री श्यामलाल जी तथा उनकी धर्मपत्नी आजीवन यथारुचि आपकी सेवा-सहायता करते रहे

आपके एक दीक्षित शिष्य श्री नारायण जी थे। गाडोदिया मार्केट, खारी बावड़ी, देहली में उनकी आढ़त की दुकान थी। एक बार अत्यधिक घाटा आ जाने से श्री नारायण जी की स्थिति लगभग दिवालिया होने की हो चली। वे आपके पास पहुँचे, अपना सब दुःख सुनाया और निवेदन किया कि हीनदशा में जीवित रहने से तो विष खाकर मर जाना ही अच्छा रहेगा। आपकी करुणा एवं भक्तवत्सलता उमड़ पड़ी। स्वयं सदा भौतिक अभावों को सहने वाले से अपने जन का अभाव एवं कष्ट सहन न हो सका। आपने उनको धैर्य बंधाया और आर्थिक स्थिति ठीक हो जाने का विश्वास दिलाया। उनके घर श्री सूक्त एवं लक्ष्मी-स्तोत्र आदि के पाठ की व्यवस्था कराई एवं ग्रह-शान्ति के हेतु समुचित उपाय कराये। वस्तुतः यह सब तो अपनी शक्ति-सामर्थ्य को छिपाने का लोक-संग्रहार्थं नाटक मात्र था। आपके कृपा-प्रसाद से श्री नारायण जी पहिले से भी अधिक धन-धान्य सम्पन्न हो गये, परन्तु आपने उनसे कोई आर्थिक सेवा ग्रहण नहीं की।

श्री कुन्दनलाल मल्होत्रा तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती परम-प्यारी मलहोत्रा (गाजियाबाद) आप के बड़े श्रद्धालु एवं भावुक दीक्षा-शिष्य थे। श्रीमती परमप्यारी आपको साक्षात् शिव-रूप ही देखती थीं और आपसे पुत्रीवत् अविरल स्नेह प्राप्त करती थीं। श्री कुन्दनलाल जी नौकरी करते थे और यत्र-तत्र उनका स्थानान्तरण होता रहता था। वेतन थोड़ा ही मिलता था। जिससे कठिनाई से निर्वाह ही हो पाता था, परन्तु 'ऊपर की आय' काफी हो सकती थी। आपका उनको

आदेश था कि 'ऊपर की आय' (रिश्वत) हरगिज न लेना, भले ही एक समय ही भोजन मिले, ईश्वर तुम्हारी सब आवश्यकताओं का निर्वाह अवश्य करेगा। पति-पत्नि गुरुदेव की आज्ञा का श्रद्धा-विश्वासपूर्वक पालन करते और वेतन मात्र से ही निर्वाह चलाते थे।

रिश्वत न लेना, न लेने वालों के लिए भूषण भले ही हो, पर लेने वालों की दृष्टि में तो बड़ी भारी बाधा एवं दूषण है। जो नहीं लेता वह जाने-अनजाने में दूसरों के लेने में बाधक बनता ही रहता है। यही कारण है कि रिश्वत लेने वालों के समुदाय में न लेने वाला नहीं टिक पाता। लेने वाले, न लेने वाले से शत्रुता मानने एवं उसे हानि पहुंचाने की चेष्टा करने लगते हैं। श्री कुन्दनलाल मल्होत्रा के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। ये मैनपुरी में थे कि एक दुष्ट इनके पीछे पड़ गया। इन्हें इतना सताया, इतना सताया कि संत्रस्त होकर आपको पुकारने लगे। भक्तवत्सल आप मैनपुरी जा पहुँचे। पर दुष्ट को दण्ड देने से पहिले तो अपने भक्त को ही परखना था, अतः बोले—'निर्भय हो जाओ! बोलो, इस दुष्ट को क्या दंड देना चाहते हो? यह अन्धा हो जाय या अपाहिज कर दिया जाय या जीवन से ही.................!' आप के भक्त भला आपके ही अनुरूप कैसे न बनते? मल्होत्रा-दम्पत्ति ने करबद्ध निवेदन किया—'नहीं भगवन्! यह कहीं अन्यत्र चला जाय और इसकी बुद्धि शुद्ध हो जाय!' आप परम प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हुए। अपनी शक्ति-सामर्थ्य को छिपाने के लिए पाठ-पूजन कराने का नाटक रचा और उसके समाप्त होते न होते वह स्थानान्तरित होकर मैनपुरी से अन्यत्र चला गया।

श्री मल्होत्रा जी की कन्यायें विवाह योग्य होने वाली थीं, पर वेतन में घर का व्यय ही कठिनाई से चलता था। एक दिन श्रीमती परम-प्यारी ने संकेत से यह बात आप पर प्रकट कर दी। आप चुप चले आये। एक सप्ताह के अन्दर ही श्री मल्होत्रा जी को पदोन्नति की

सूचना मिली जिसमें दूना वेतन, भत्ता आदि सब कुछ मिलना था और सब से बड़ी बात यह कि स्थानान्तरण ऐसी जगह हुआ जहाँ बिना श्रम एवं व्यय के आसानी से २-४ दूधारू पशु भी पाले जा सकते थे। पर बीच में ही किसी दुष्ट ने रिश्वत के बल पर गड़बड़ी कराके अपना स्थानान्तरण उस जगह करा लिया जहां इनका होना था और अपनी जगह इनका करा दिया। फलतः अब इनका स्थानान्तरण बिहार में एक ऐसे घनघोर सुनसान स्थान पर हुआ जहां हिंसक एवं विषैले जीव दिन-रात यमराज का परवाना लिए चारों ओर घूमते रहते थे। जब ये लोग वहां पहुंचे तो वहां कि दशा देख-सुनकर सन्न रह गये। भयभीत शिष्या ने साधन में बैठते समय करुण प्रार्थना की —'गुरुदेव ! हम इस भयानक स्थान में, इतने कष्टों में कैसे रहेंगे ? हमारी रक्षा कीजिए !' आप ध्यान में प्रत्यक्ष हुए और अभय मुद्रा में कहा—'चिन्ता न करो, तुम अन्यत्र चले जाओगे !' श्री मल्होत्रा जी अपने विभाग के बड़े साहब के पास वहां पहुंचकर कार्य संभाल लेने की सूचना देने पहुंचे तो साहब ने कहा—'तुम यहां कैसे आगये ? तुम्हारा स्थानान्तरण तो अमुक जगह किया गया था। तुम वहीं जाओ।' और साहब ने अन्यत्र जाने का आर्डर लिखकर श्री मलहोत्रा जी को दे दिया। एक बार आपने परमप्यारी मलहोत्रा के वैधव्य-योग का भी निवारण किया और श्री मल्होत्रा जी की प्राणान्तक अरिष्ट योग से रक्षा की। निर्धन भावुक शिष्यों की तो आप अपने सर्वस्व तक की बाजी लगाकर भी सहायता एवं रक्षा करते थे।

पूज्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी के सहोदर अनुज श्री हरद्वारीलाल एवं उनकी धर्मपत्नि को भी आपने शक्तिपात दीक्षा देने का अनुग्रह किया था। पहासू निवासी श्री कुन्दनलाल भी श्री लाला गंगाप्रसाद के परिचय से दीक्षा लेने आपकी सेवा में उपस्थित हुए थे, परन्तु आपने उन्हें आध्यात्मिक-भूमिका-शून्य देखकर गायत्री का जप

करने का आदेश दिया। आप भली भांति समझते थे कि अनधिकारी को दीक्षा देने से शिव एवं शक्ति दोनों का अपमान होता है, परन्तु अपने करुणा परिपूर्ण स्वभावानुसार दीन-दुखियों के उद्धार में आप सतत् प्रयत्नशील रहते और कोई न कोई उपाय करते ही रहते थे जिनमें प्रमुखतः गायत्री-जप का आदेश ही होता था। १ वर्ष गायत्री का जप करने के बाद भी जब शक्ति श्री कुन्दनलाल जी की ओर प्रेरित नहीं हुई तो आपने पूछा –'निश्चय ही आप कर्मशाठ्य के दोषी हैं। बताइये, आपने ऐसा कौन-सा गर्हित पाप किया है जिसके कारण आपका गायत्री-जप कुण्ठित है और भगवती शक्ति आपके कल्याण में प्रवृत्त नहीं हो रहीं ?' श्री कुन्दनलाल ने रोते-रोते अपना दुष्कर्म निवेदन किया और तब उनको कुछ अनुभव हुए। आपने उन्हें मन्त्र-दीक्षा और नित्य गायत्री-जप करते रहने का आदेश देकर विदा किय ।

कर्मशाठ्य एवं वित्तशाठ्य शिष्य की प्रगति के अवरोधक महान दूषण हैं। शास्त्र का निर्देश है कि अपने सब पाप-पुण्य गुरु-चरणों में पूर्णतया स्पष्ट निवेदन कर देने चाहियें। ऐसा करने से श्री गुरु की दिव्य-दृष्टि एवं तपःशक्ति कृपा करने के पूर्व ही शिष्य के सब पाप-पुण्यों का प्रक्षालन कर के उसके अन्तःकरण को शुभ्रवस्त्रवत् स्वच्छ कर देती है और तब उसमें शक्तिपात का प्रतिफल अभीष्ट एवं सद्यः होता है। इस प्रकार गुरु-शक्ति का व्यर्थ अपव्यय नहीं होता, साथ ही शिष्य भी अनुपलब्धिजन्य निराशा से बच जाता है और उसकी श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास, साहस, धैर्य आदि भी भंग नहीं होते वरन् अच्छे अनुभव पाकर और भी बढ़ते हैं। परन्तु प्रायः देखने में यह आता है कि शिष्य अपने शुभ-पुण्य कर्मों का तो श्री-गुरु के सन्मुख बढ़ा-चढ़ाकर भाँति-भांति से बार-बार कथन करते हैं और अशुभ पाप कर्मों को यत्न-पूर्वक छिपाकर रखते हैं। इसी को कर्मशाठ्य कहते हैं। कर्मशाठ्य रूप

व्यवधान के कारण श्री गुरु की अन्तरात्मा के साथ शिष्य का तादात्म्य नहीं हो पाता और शिष्य का चित्त निर्मल होने के वजाय और अधिक कलुषित हो उठता है। कर्मशाठ्य करने वाले शिष्य को शक्तिपात वेघ दीक्षा देने का निषेध है। यदि करुणा-वश या किसी की सिफारिश, आग्रह के कारण श्री गुरुदेव ऐसे शिष्य को दीक्षा दें भी, तो कर्मशाठ्य की गुरुता के अनुपात से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अनुपलब्धि होने के कारण श्रद्धा-निष्ठा का ह्रास होगा, श्री गुरुदेव में सामान्य मनुषत्व बुद्धि बढ़ेगी, श्रेय दूर भागता जायेगा और यहां तक कि प्रेय में भी विघ्न-वाधायें खड़ी होकर विपर्यय परिणाम भी उपस्थित हो जाय तो आश्चर्य नहीं। श्रीगुरु ईश्वर, शिव, ब्रह्म रूप हैं। उनसे छिपाव कैसा ? तथापि प्रायः शिष्य कर्मशाठ्य करते हैं और फिर दीक्षा से कोई लाभ न होने की शिकायत भी करते हैं। उधर प्रायः गुरुजन भी इस ओर कोई ध्यान नहीं देते, करुणा अथवा परिचय-वश अनुग्रह करते जाते हैं और शक्ति के अपव्यय के तथा दीक्षार्थी को कुछ अनुभव न होने पर अपयश के भागी वनते हैं। केवल प्रभावपूर्ण परिचय या तगड़ी सिफारिश के कारण, मोहवश, स्वार्थ अथवा लोभवश अथवा अन्य भौतिक परिस्थितियों से वाध्य होकर दीक्षा लेने-देने से श्री गुरु एवं शिष्य दोनों ही अपयश एवं श्रेयहानि के भागी और गुरु-शिष्य की पावन परम्परा के घातक वनते हैं। इसीलिए ऐसा करना निषिद्ध है। ऐसे गुरु-शिष्यों को शक्ति, शिव का कोप अथवा सिद्धों के श्राप मिलते हैं।

कर्मशाठ्य की भांति वित्तशाठ्य भी शिष्य के कल्याण का घातक है। शास्त्राज्ञा है कि जन्म-मरण से मुक्त करने वाले समर्थ गुरु को तन-मन-धन अर्पण कर देना चाहिए। इतना नहीं तो अपनी सम्पत्ति का षष्टमांश अर्पण करना चाहिये। इतना भी नहीं तो दशमांश तो अवश्य ही अर्पण करना चाहिये। 'श्री गुरुदेव तो निस्पृह त्यागी-तपस्वी

हैं, उन्हें धन की क्या आवश्यकता ?' शिष्य का यह विचार गृहस्थी-गुरु के सम्बन्ध में तो नितान्त पापपूर्ण है ही, त्यागी-संन्यासी गुरु के विषय में भी दूषित है। शिष्य का धर्म समर्पण है,—'श्री गुरुदेव क्या करेंगे'—इस के निर्णय में शिष्य का तो कोई अधिकार नहीं। यहाँ उन नामधारी गुरुओं का प्रसंग नहीं है जो रंगीन वस्त्रादि का प्रमाण-पत्र लिए धन इकट्ठा करने के लिए ही चेले मूँडते हैं और संसार-सागर के मगर बने धनिक शिष्य-मच्छों की घात में मुँह वाये नाना विधि पाखण्ड-आडम्बर रचते हैं। यहां तो प्रसंग केवल उन श्री-गुरुओं का है जो स्वयं परमनिश्श्रेयसनिष्ठ जीवन-मरण से मुक्त हैं और अहैतुकी करुणा के वशीभूत, लोकसंग्रह हेतु मुमुक्षुओं-जिज्ञासुओं के त्राण-हित ही जीते हैं। खटमल-पिस्सुओं की भाँति अहर्निश रक्त पीते एवं त्रास देते शत्रुरूप कुपुत्र, कुभार्या, कुसन्तान आदि के निमित्त भी धनी पानी की भांति पैसा बहाता है, अपने व्यक्तिगत क्षणिक सुख-भोगों के लिए भी सैकड़ों, हजारों, लाखों का अपव्यय करता है और वही जब किसी पुण्यवशात् श्री गुरु-चरणों में उपस्थित होता है तो उन्हें उतनी भी सेवा-भेंट निवेदन नहीं करता जितने के कि वह प्रतिदिन, प्रतिसप्ताह, प्रतिमाह या प्रतिवर्ष पान खाकर थूक देता है तथा सिगरट पीकर धुआं उड़ा देता है! इससे स्पष्ट होता है कि मुक्तिदायक ज्ञान एवं उसके दाता श्री गुरुदेव का उसकी दृष्टि में कितना मूल्य, महत्व तथा निष्ठा है! ऐसा व्यक्ति भला शक्तिपात दीक्षा का अधिकारी कैसे हो सकता है? जो श्री गुरुचरणों से मुक्ति के अलभ्य लाभ की आशा करे और उनसे उपकृत हो, वही सांसारिक सम्पत्ति को इतना महत्व भी दे तो लाभ तो क्या, उलटे पाप और शक्त्याभिशाप का ही भागी होगा। अतः वित्तशाठ्य भी कर्मशाठ्य की भांति शिष्य का महान दूषण एवं कल्याण का घातक है। वित्तशाठ्य निर्धनों को संरक्षण प्रदान करते देखा गया है क्योंकि उनमें प्रायः यह होता ही नहीं। होते हुए भी न

देना या देना पड़ेगा इसलिए अभाव दर्शाने को ही वित्तशाठ्य कहते हैं। कर्मशाठय एवं वित्तशाठ्य से अछूते निर्मल, निर्लोभ शिष्य को ही श्री गुरुदेव का शक्तिसंपात् सद्यः उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं पर आरूढ़ करता जाता है। शिष्य की उन्नति-अवनति में साधन-शाठ्य भी अपना विशेष स्थान रखता है जो 'साधन में प्रमाद, श्री गुरुदेव में शिवभाव, श्रद्धा, विश्वास आदि का अभाव' आदि रूपों में प्रसिद्ध है। साधन में उत्कर्ष के इच्छुक साधक के लिए इन तीनों शाठ्यों से बचना अत्यावश्यक है। जिनका साधन-उत्कर्ष नहीं होता, उन्हें इन्हीं तीनों के प्रकाश में आत्मनिरीक्षण करके कारण को दूर करना अभीष्ट है। खेद है कि वर्तमान में कर्मशाठ्य, वित्तशाठ्य एवं साधनशाठ्य,—शाठ्यत्रय बढ़ते जा रहे हैं एवं फलस्वरूप शक्ति-संपात् निर्वीय, निष्फल-सा माना जाने लगा है जिसके लिए श्री गुरु और शिष्य दोनों ही उत्तरदाई हैं।

आपने किशनपुर निवासी श्री शंकरलाल शर्मा, नरपति शर्मा, श्री छिद्दालाल शर्मा तथा श्री शिवप्रसाद शर्मा को भी श्री रामकला शर्मा के माध्यम से शक्तिपात दीक्षा देकर अनुग्रहीत किया। श्री मङ्गलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल० को भी आपने दीक्षा देकर अनुग्रहीत किया जिन्होंने यथारुचि बराबर आपकी सेवा-सहायता की। श्री लाला गङ्गाप्रसाद गुप्ता (ग्राम कसूमी, जि० बुलन्दशहर) को भी आपने फरवरी १९४७ में शक्तिपात दीक्षा से अनुग्रहीत किया। श्री गुप्ता जी उस समय ग्राम त्यौरी के नवाब के यहाँ कारिन्दा थे और आजीवन ब्रह्मचारी होने के कारण अकेले ही रहते थे। घर के अन्य लोगों से इनका कोई विशेष सम्पर्क या अनुरक्ति नहीं थी। अतः शक्तिपात दीक्षा लेने के पश्चात् अपने गुरुदेव श्री उपाध्याय जी की आर्थिक स्थिति एवं घर-गृहस्थी के भार का अनुभव करके इन्होंने अपना तन-मन-धन आपके अर्पण कर दिया एवं सर्वतोभावेन यथावश्यकता गुरु-सेवा में तत्पर हो गये। फरवरी सन् १९४७ से सन् १९५२ तक पूर्णतया तथा बाद में

भी यथारुचि आपकी घर-गृहस्थी का काम-काज श्री गुप्ता जी ने ही संभाला। श्री गुप्ता जी आपके परम स्नेहास्पद एवं विश्वासभाजन बन गये थे, अतः आपने सब से बड़े समर्थ पुत्र की भाँति घर का सारा कार्यभार श्री गुप्ता जी पर ही छोड़ दिया था, स्वयं तो केवल प्रेरक, द्रष्टा, अनुमन्ता मात्र ही रह गये थे।

× × × ×

[८]

योगसिद्धि जन्म-जन्मान्तर की साधना का फल है। यदि किसी महाभाग को इस जन्म में अल्प-साधना से या अकस्मात तत्काल ही योग-सिद्धि होती है तो समझ लेना चाहिये कि वह पूर्व जन्मों में अधिकांश साधना पूरी कर चुका है और अत्यल्प शेष साधना अथवा किसी प्रति-बन्ध विशेष के कारण उसे यह जन्म लेना पड़ा है जिसके पूरी होते या हटते ही उसे झट सिद्धि हो जाती है। श्री उपाध्याय जी अपनी अधि-कांश साधना पूर्व जन्म में ही पूरी कर आये थे, अतः इस जन्म में अधिक करनी शेष नहीं थी। दीक्षा लेने के बाद आप अपने साधन को गुप्त रखते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते अहर्निश क्रिया-रूढ़ ध्यानरत ही रहते थे। भले ही स्थूलदर्शी जनों की दृष्टि में यह कोई साधना न हो, परन्तु तुरीय-तल्प पर परम विश्राम पाने के लिए वास्तव में इससे बढ़कर कोई साधना नहीं। आपकी साधना दिखावे के लिए नहीं, आत्म-कल्याण के लिए थी। आप दिखावे और ख्याति से तो कोसों दूर भागते थे। आप का कहना था – 'यह संसार-सागर अथाह-अपार है जिसमें नाना नाम-रूपधारी माया-मगर साधनरत साधक को ग्रसने मुँह बाये घूमते रहते हैं। चतुर साधक को चाहिये कि चुपचाप, उन सबकी दृष्टि से बचते हुए और अपने को छिपाये

— —

रखकर, इस संसार-सागर को तर जाय । यदि सिद्धियों-शक्तियों का ढोल पीटकर हल्ला करेगा और लोक दिखावे एवं प्रतिष्ठा के लिए वार-वार अपने को सामने लावेगा तो अवसर पाकर कोई भी माया-मगर दाढ़ों में दवाकर उदरस्थ कर लेगा।' अपनी इस धारणा के अनुसार आप अपने साधक-स्वरूप को कभी प्रकट नहीं करते थे और शक्ति-सामर्थ्य का यत्नपूर्वक गोपन करते थे। यही कारण था कि गिने-चुने १०-५ शिष्यों को छोड़कर अन्य सभी परिचितों की दृष्टि में आप केवल संस्कृत के विद्वान् ब्राह्मण, वैद्य या ज्योतिषी मात्र ही थे। किसी को आपके योगसंसिद्ध-स्वरूप की तो कल्पना तक भी नहीं थी। आपकी मान्यता के अनुसार साधन एवं तज्जन्य शक्ति-सामर्थ्य परम गोपनीय हैं, जिनका प्रचार या प्रकाशन साधक के लिए सर्वाधिक हानिप्रद होता है।

आपका ध्यान वढ़ते-वढ़ते उन्मनी अवस्था तक पहुँचा और तव आप प्रायः—

'निश्वास लोपैर्निभृतै शरीरै–
नेत्राम्बुजै अर्धनिमीलितैश्च ।
आविर्भवन्ती ममनस्कमुद्रा–
मालकयामो मुनि पुंगवानाम्॥'

की स्थिति में ही रहने लगे थे। चलते-फिरते भी आपकी स्थिति 'सविन्मयी काचितजाड्यनिद्रा' में ही रहती थी, अतः रास्ता भटक जाने या यात्रियों से अटक जाने के कारण आपका कहीं आना-जाना भी प्रायः वन्द हो चला था। किसी शिष्य को साथ लिए विना कहीं जाना संभव नहीं रहा था। इस अवस्था से अपरिचितजन आपको देखकर नाना भांति अटकलें लगाते और फवतियां कसते, पर आपकी

दृष्टि में तो सच्चिदानन्द के अतिरिक्त कहीं-कुछ रह ही नहीं गया था और था भी तो स्वप्नवत् आभासमात्र !

योगसिद्धि की उच्च भूमिका पर पहिले तो शरीर सहित समस्त ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की शक्ति संकल्प में ही निहित हो जाती है और धीरे-धीरे संकल्प में समस्त ईश्वरीय शक्तियों का साक्षात् हो जाता है। इसी स्थिति का—

'बिनु पग चलहि सुनहिं बिनु काना।
कर बिनु कर्म करहि विधि नाना ।।
सर्वतः पाणि पादं तत सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।'

आदि नाना प्रकार से आध्यात्मिक प्रसंगों में उल्लेख एवं संकेत होता आया है। आपके संकल्प में भी वही सब क्षमतायें प्रत्यक्ष होती जा रही थीं, पर ज्यों-ज्यों इनका साक्षात् होता था, त्यों-त्यों आप इन्हें अधिकाधिक गुप्त रखने का प्रयत्न करते थे। आपको करुणावश किसी पर कोई कृपा करनी होती थी तो सीधे नहीं वरन् किसी मन्त्र या पूजा-पाठ या औषध को निमित्त बनाकर, उसी को श्रेय देते हुए करते थे और अपनी कोई महानता प्रकट नहीं होने देते थे। सूर्य अपने को कितने ही घने बादलों से क्यों न ढक ले, पर आँखों वाले उसे जानते-पहिचानते ही रहते हैं। इसी तरह आपके कुछ अनन्य भक्त आपकी शक्ति-सामर्थ्य को लाख छिपाने पर भी जानते-पहिचानते ही थे। आपकी साधन-भूमिका इतनी ऊँची पहुँच चुकी थी कि शायद सभी स्तर पार किये जा चुके थे। इतनी तीव्रगति से, इतने अल्प प्रयास एवं काल में, इतना उत्कर्ष साधन करना आपके पूर्व जन्म की साधना का ही फल समझना चाहिए। आपको अन्य कई दिव्य शक्तियों

के साथ-साथ अदृश्य होने की सिद्धि भी थी, जिसे एक-दो वार देखा भी गया।

आपके पुराने आर्यसमाजी परिचित आपकी इस स्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ थे, अतः परिहास में कहते—'उपाध्याय जी आप तो सनातनी वनने के वाद शिवजी की भाँति हर समय भाँग के नशे में सोये-से रहते हैं !' आप यह सुन कर अपनी सहज मुस्कान में हँस देते थे। एक वार एक आर्यसमाजी ने छेड़ने के मन्तव्य से प्रश्न किया—'उपाध्याय जी, सनातनी मानते हैं कि मुक्ति के वाद फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। जन्म न लेने से सवके मुक्त होने पर सृष्टि कैसे चलेगी ? सनातनियों की यह मान्यता कितनी भ्रान्त है। हम तो मुक्ति के वाद कल्प पर्यन्त ईश्वर के साथ निवास करके पुनः जन्म लेने को ही ठीक मानते हैं। इस वारे में आप का क्या मत है ?' आप ने बड़े सहज भाव से उत्तर दिया—'पहिले प्रयत्न कर के मुक्ति तो प्राप्त कर लीजिये, तव स्वयं ही सही स्थिति का पता लग जायगा। सव को लौटना पड़ता हो तो आप भी लौट आवें और न लौटना पड़ता हो तो वहीं निवास करें। मुक्ति तक पहुँचने के पहिले ही दिमागी कसरत में उलझकर अपना समय नष्ट क्यों करते हैं ?' महाशय जी से आगे कुछ वोलते न वन पड़ा।

एक वार प्रवास में आपने एक ब्राह्मणेतर के हाथ का वनाया हुआ कच्चा भोजन कर लिया। दूसरे दिन जव आपको इस वात का पता चला तो आप वोले—'आज मैं भोजन नहीं करूँगा। मैं गृहस्थी हूँ, शिखा-सूत्रधारी हूँ, प्रमादवश मुझ से शास्त्राज्ञा का उल्लंघन हो गया। अतः इसका प्रायश्चित्त करना उचित है।' एक आर्यसमाजी साथी ने यह सुनकर फब्ती कसी – 'उपवास करने से तो अछूत के हाथ का वना भोजन और भी जल्दी जीर्ण होकर आपके रक्त में मिल जायेगा।' आपने हँसकर उत्तर दिया— 'वह भोजन तो कभी का जीर्ण हो चुका, मैं तो अव उस जीर्ण हुए के सार और अपने प्रमाद को जीर्ण करने के

लिए उपवास कर रहा हूं।' आप मृतक-भोज अथवा श्राद्ध-भोज में कभी सम्मिलित नहीं होते थे और यदि कभी होना ही पड़ जाता था तो यथेष्ट गायत्री-जप करके उसका प्रायश्चित्त अवश्य करते थे। इस सब के मूल में—'अन्नमयं हि मनः सौम्य .... '—शास्त्र-वाक्य ही था।

आप में वाणी एवं जिह्वा का संयम आश्चर्यजनक एवं आदर्श रूप में था। शास्त्रों में वाणी को अग्निरूप कहा गया है (तेजोमयी वाक्), अग्नि के समान ही वाणी के दुरुपयोग के भी बड़े ही घातक एवं दाहक परिणाम होते हैं। आप बड़े ही ऋत, मित एवं मिष्टभाषी थे। जिह्वा का संयम तो आप में देखते ही बनता था। मनोनुकूल रुचिकर स्वादिष्ट भोजन मिलने और जोर की भूख लगी होने पर थोड़ा-बहुत अधिक खा लेना आम बात है जो अच्छे-अच्छे त्यागी-तपस्वियों एवं भिक्षु-संन्यासियों तक में पाई जाती है। पर आप इसके प्रतिवाद थे। कितनी ही जोर की भूख लगी हो और कितने ही रुचिकर स्वादिष्ट पदार्थ सामने आ जायें, आपको कभी आवश्यकता से अधिक एक ग्रास भी लेते नहीं देखा गया। भोजन के सम्बन्ध में आग्रह करने पर आप प्राय: कहा करते थे— 'जीने भर के लिए ही खाना चाहिये, खाने के लिये ही जीना मनुष्य की नहीं, कूकर-शूकरों की प्रवृत्ति है।'

खेरली के आस-पास ही किसी गांव में किसी धनिक ने बड़ी रुचि से खूब पैसा लगाकर एक कोठी बनवाई। निर्माण-कार्य पूरा हो जाने पर गृह-प्रवेश विधिवत् कराया, पर जब सपरिवार उसमें जा पहुँचा तो भूत-पिशाच-बाधा ने इतना परेशान एवं आतंकित कर दिया कि उसे नयी कोठी छोड़कर भागना पड़ा। बेचारे बहुत परेशान थे कि इतना धन व्यर्थ गया और कोठी का कोई उपयोग न हो सका। अनेकों स्याने-ओझों ने प्रयत्न किये, पर कुछ लाभ नहीं हुआ, उलटे बात और फैल गई जिससे कोई खरीदार भी पास नहीं फटकता था। आपके

किसी परिचित ने संकेत दे दिया—'किसी बहाने शाम के समय श्री उपाध्याय जी को लिवा लाओ और इसमें ठहरा दो, सब ठीक हो जायगा।' इस संकेत में धनिक के परोपकार की भावना इतनी नहीं थी जितनी श्री उपाध्याय जी के परीक्षण की थी।

बेचारा धनिक एक दिन सायंकाल आपके पास पहुँचा और साथ चलकर रोगी को देखने एवं औषध देने की प्रार्थना की। पहिले तो आपने सूर्यास्त में थोड़ा ही समय शेष देखकर दूसरे दिन प्रातः चलने का विचार प्रकट किया, पर आगन्तुक की निराशा एवं रोगी के कष्ट का विचार करके दयालु स्वभाव के कारण उसके साथ हो लिए। पहुँचते-पहुँचते रात्रि काफी हो गई, अतः सवेरे ही रोगी को दिखाने का निश्चय करके आपको उसी कोठी में ठहरा दिया गया। रात्रि के १२-१ बजे विचित्र रुदन एवं अट्टहास सुनकर तथा प्राण घुटने का सा आभास पाकर आप अपनी शैया पर बैठ गये और ध्यान लगाकर सब वृत्तान्त जान लिया। आप गायत्री-जप एवं क्रिया करने में लग गये और प्रातः ४-५ बजे तक लगे ही रहे। तब—'हम जाते हैं, अब यहां नहीं रहेंगे, कभी भी नहीं आयेंगे'—की चीख-पुकार के साथ सब उत्पात शान्त हो गये। प्रातः होने पर कोठी के स्वामी ने आकर प्रणाम किया तो आप क्रोधाभास दरशाते हुए बोले—'धूर्त कहीं के, पहिले ही क्यों नहीं बताया ?' 'धूर्त' शब्द आप की सब से बड़ी गाली थी जिसका आप विशेष स्नेह अथवा क्रोध का प्रदर्शन दोनों ही अवसरों पर प्रयोग कर लिया करते थे।

करुणा सात्विक सद्गुण है, पर इसके निर्वाह के लिए कभी-कभी दूसरों का प्रारब्ध स्वयं ही भोगना पड़ जाता है। आपके शिष्य के एक सम्बन्धी असाध्य रोग से ग्रस्त हो गये। वैद्य होने के नाते आप उसे देखने गये। अपने सम्बन्धी से रोगी को आपकी शक्ति-सामर्थ्य का पता चल गया था। आप उसे देखने पहुँचे तो रोगी और उसके स्त्री-

बच्चों ने रोते हुए करुण याचना की—'अब कोई औषध नहीं चाहिये, आप स्वयं ही महौषधरूप हैं। बस, स्नेहपूर्वक शिर पर आशीर्वाद का हाथ रख दीजिए!' आपने अमुक-अमुक औषधियों की महिमा बताकर प्रसंग टालना चाहा। स्वार्थ मनुष्य को अन्धा बना देता है, भला वे क्यों कुछ मानते या सोच-विचार करते? सायंकाल था और प्रातः तक भी रोगी का बच पाना संभव नहीं लग रहा था। रोगी-परिवार की अबला नारियों एवं भोले शिशुओं के आंसू देखकर उमड़ी हुई करुणा ने आपको व्याकुल कर दिया। आपने रोगी के शिर पर सस्नेह हाथ फिराया और चले आये। आग्रह करने पर भी कोई सेवा-भेंट स्वीकार नहीं की। उसी समय से वह रोगी तो धीरे-धीरे स्वस्थ होता गया, पर आप उसका रोग ले बैठे और १०-१५ दिन स्वयं भोगकर उसके अरिष्ट प्रारब्ध का क्षय किया। तब से आपने वैद्य के रूप में रोगी को देखने जाना प्रायः बन्द कर दिया।

'सांसारिकव्याप्रतिहीन रागः' एवं 'मुक्तिकामान् प्रति भूरिरागः'—ये दोनों आपके जीवन के अर्धाङ्ग थे जिनके मिलाने से आपका पूरा जीवन निर्मित था। मुक्तिकामियों को आप इतना सम्मान, वरीयता एवं स्नेह देते थे कि आपके अन्य परिचित, कुटुम्बी एवं सम्बन्धी आश्चर्यचकित अमर्षाभिभूत हो उठते थे। आत्मान्वेषी तो मानो आपकी आत्मा ही थे। आप जैसी ही महान् विभूति हैं आपके वरिष्ठ गुरुभाई श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज! दोनों ही गुरु-भाइयों ने थोड़े ही आगे-पीछे शक्तिपात दीक्षा ली, दोनों ही पूर्वजन्म से लगभग एक-सी ही भूमिका लेकर जन्मे, दोनों ही शुद्ध शुक्लकर्ममय विभूतियां, दोनों ही राम के समान मर्यादा-पालक एवं युधिष्ठिर के समान धर्मभीरु, दोनों ही नितान्त निरभिमानी विनम्र विद्वान्, त्यागी, निस्पृह एवं तत्वज्ञ, दोनों ही दीक्षा के तुरन्त बाद ही श्री गुरुदेव द्वारा गुरुपद पर प्रतिष्ठित और दोनों के ही प्रति श्री गुरुचरणों का

समान आशीर्वाद, धारणा एवं स्नेह था। आप दोनों का प्रथम परिचय गाजियाबाद में हुआ था। बाद में श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज एक बार आपसे मिलने खेरली पधारे थे। श्री हरद्वारीलाल जी दीक्षार्थी थे, परन्तु श्री स्वामी जी अपना सहोदर होने के नाते उन्हें स्वयं दीक्षा नहीं देना चाहते थे। अतः श्री स्वामी जी महाराज श्री हरद्वारीलाल जी को साथ लेकर एक बार दुबारा भी खेरली पधारे थे और आप से उन्हें दीक्षा दिलवाई थी।

ऋषिकेश में भी श्री गुरु-चरणों में प्रायः दोनों का मिलन होता रहता था। दोनों में परस्पर परम स्नेह, विशुद्ध आत्मीयता एवं एक-दूसरे के लिए सम्मान-भावना थी जो आजीवन बढ़ती ही रही। अन्तर था केवल एक,—आप आजीवन गृहस्थ में ही रहे और श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ने सन् १९४० में संन्यास ग्रहण कर लिया था। आपका परस्पर का स्नेह एवं व्यवहार आजकल के उन अहंकारग्रस्त गुरुभाइयों के लिए आदर्श प्रेरक एवं मार्ग-प्रदर्शक था जो परस्पर राग-द्वेष, भलाई-बुराई, नाना-विधि जुगुप्सा एवं एक दूसरे के विरुद्ध कुमन्त्रणाओं-कुचक्रों में ही पड़े रहकर अपने साधक-स्वरूप एवं जीवन-लक्ष्य को ही विस्मृत कर बैठते हैं, जो अधिक गुरु-सेवा या प्रथम दीक्षा प्राप्त करने के दम्भ में किसी के साधन-स्तर की ओर दृष्टिपात ही नहीं करते और जो साधन-स्पर्धा के स्थान पर आचरण-चरित्र-भ्रष्ट होते जाते एवं गुरु-आश्रम को अधिकार, सम्मान, वरीयता झपटने-हड़पने का अखाड़ा बनाये रहते हैं। आप दोनों के निर्मल आदर्श जीवन ऐसे साधक गुरुभाइयों की बुद्धि को शुद्ध कर उन्हें श्रेय की ओर प्रेरित करें!

जैसे को तैसे की पहिचान सहज स्वाभाविक होती है। आप स्वयं उच्चस्तरों पर रमण करने वाली विभूति थे, अतः चेहरा देखकर ही साधक और उसके स्तर को जान जाते थे। एक बार एक योग-

संसिद्ध दहली के एक जनाकुल बाजार में चाट बेचते हुए दिखाई पड़ गये। आप जाकर उनके पास खड़े हो गये और ध्यान से उनके चेहरे एवं क्रिया-कलापों का निरीक्षण करने लगे। वे सिद्ध भी इन्हें ताड़ गये और बोले—'क्यों, चाट खाओगे ?' 'हाँ', आपने झट उत्तर दिया, 'पर यह दही-पकोड़े की चाट नहीं, वह चाट जिसे चुपचाप चाटने के लिए आप चाट चटाने का स्वांग भर रहे हैं !' सिद्ध हँसे और बोले,—'अच्छा, अच्छा! बड़ा अच्छा भजन करता है, जा. ऐसे ही किये जा ! चाट तो तेरे सामने भी है और चाट भी तो रहा है !'—और वे न जाने कब, किधर अपनी ठेली बढ़ाते हुए भीड़ में आगे बढ़ गये। विचारमग्न आप को जब चेत हुआ तो लाख खोजने पर भी उनका कुछ पता न चला।

एक बार आपके एक कनिष्ठ गुरुभाई, जो शास्त्र मर्यादानुसार आप में गुरुतुल्य ही श्रद्धा-भक्ति रखते थे, आपके दर्शनार्थ खेरली आये। आप उन्मनी में मग्न थे। प्रणाम करने पर आप को चेत हुआ। उन्हें देखकर आप मुस्कराये और बोले,—'अरे, आप ! अकस्मात् इस समय कहाँ से, कैसे आये ?' स्टेशन सामने होने के कारण आप को गाड़ियों के समय ज्ञात थे और उस समय किसी रेलगाड़ी के आने का समय नहीं था। उन्होंने हँसकर कहा,—'यों ही केवल दर्शनार्थ आया हूँ, गाड़ी लेट होने से असमय हो गया।' आपने उनके चेहरे पर वेधक दृष्टिपात करते तथा मुस्कराते हुए कहा,—'आप को तो मेरे दर्शन होते हैं !' उन्होंने संकोचपूर्वक उत्तर दिया,—'गुरु-चरणों के प्रताप से होते हैं, पर आपकी भांति व्यवधान रहित नहीं।' और दोनों के चेहरे पर साम्यानन्द की एक लहर दौड़ गई। यहाँ आप का संकेत आत्म-दर्शन की ओर था।

जैसा कि उल्लेख कर आये हैं, आप अकेले यात्रा करने में भटक जाते थे जिसका कारण घनीभूत सहज उन्मनी अवस्था थी। आप की इच्छा ऋषिकेश जाकर गुरु-दर्शनों की थी, पर खेरली से ऋषिकेश

जाना और फिर लौटना एक समस्या थी। एक वार लेखक के खेरली जाने पर वोले,—'भाई, ऋषिकेश ले चलकर गुरु-दर्शन करा दो। इसका पुण्य आप ले लेना, मेरे लिए तो गुरु-दर्शन ही बहुत होंगे।' 'यह सोने की जंजीर भी आप अपने ही पास रक्खें, मैं वैसे ही ऋषिकेश ले चलने को तैयार हूं'—लेखक ने उत्तर दिया और प्रहसन के वातावरण में आपकी ऋषिकेश-यात्रा निश्चित् हो गई। उस समय श्री गुरुचरण ऋषिकेश में ही विज्ञान-भवन में विराजते थे और उनके ही मकान में एक ब्रह्मचारी उनकी सेवा में रहते थे। ब्रह्मचारी जी अत्यल्प शिक्षित पञ्जावी शरीर थे और वड़े अक्खड़ स्वभाव के थे। सदा सवसे त्वङ्कारवाद उनकी आदत में शामिल था और श्री गुरुदेव की सेवा में रहने के कारण छोटे-वड़े सभी गुरुभाइयों से उद्दण्डता का व्यवहार करते थे। इस वात से आपको पहिले ही सूचित कर दिया गया था। पर विज्ञान-भवन के पूरे निवास-काल में ब्रह्मचारी जी ने आपके साथ न तो त्वङ्कारवाद का प्रयोग किया और न कोई उद्दण्डता ही की, वरन् उलटे और सेवा ही की। इस पर अन्य गुरुभाइयों को आश्चर्य हुआ और आप से इसका कारण पूछा। आप बोले,—'नीतिवाक्य है—'मूर्खं छन्देन रोचयेत्' अर्थात् मूर्ख को प्रशंसा से वश में करो,—मैं नित्य ब्रह्मचारी जी की प्रशंसा जो करता हूं।' सभी आपके समयानुकूल शास्त्राचरण से बड़े प्रभावित हुए।

आप संसार के प्रति रागहीन एवं निस्पृह तो थे ही, परम दयालु भी थे। वेतनभोगी नौकरों से कृषि-कार्य कराते तो ठीक समय पर उनके खाने-पीने का ध्यान रखते थे। यदि कोई और ले जाने वाला न होता तो स्वयं उनके लिए रोटी, मट्ठा, गुड़ लेकर खेतों पर पहुँच जाते। उन्हें धूप में तपते, पसीना पोंछते और वैलों को हाँपते देखते तो अभी काम छोड़ने का समय न होने पर भी द्रवीभूत होकर छुट्टी दे देते। घर वालों द्वारा गाय का दूध निकालते समय आप स्वयं पहुँच

जाते कि कहीं घर वाले लोभवश बच्चे को कम दूध देकर अधिक दूध न निकाल लें। बच्चे का पेट भर जाने पर शेष दूध ही आप निकालने देते थे। घर में कोई अतिथि आ जाता तो उसे भोजन स्वयं कराते और इस बात का पूरा ध्यान रखते कि दाल, साग, मट्ठा, दही, दूध के साथ-साथ घी तथा शक्कर भी परोसा गया है या नहीं। उन दिनों ग्रामीण जीवन में और विशेषकर आपके जैसी आर्थिक स्थिति में अतिथि को दूध, घी, शक्कर परोसना एक बहुत बड़ी बात थी। अगर घर में अभाव के कारण ये पदार्थ न परोसे जाते तो आप स्वयं चुपचाप लाकर यथा-उपलब्ध परोस देते।

संस्कृत भाषा का अध्ययन बड़ा कठिन है। भोले-भोले नन्हें छात्र धातु, रूप रटते-रटते परेशान हो जाते, पर धातु-रूप थे कि शाम के याद किये सवेरे ही मस्तिष्क से निकलकर भाग लेते। नन्हे छात्रों पर आपको बड़ी दया आती, बड़े स्नेह से उन्हें समझाते और धैर्य बंधाते। आपने छात्रों की कठिनाई को अनुभव करके संस्कृत भाषा के सरल अध्ययन के लिए 'संस्कृतालोक' नामक पुस्तक उत्तरोत्तर ४ भागों में प्रकाशित की। ये छोटी-छोटी पुस्तिकायें अल्पश्रम में आसानी से संस्कृत-भाषा सीखने के लिए परम उपयोगी हैं। नित्यप्रति व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत के शब्दों का तो इन्हें कोष ही कहना चाहिए। इन पुस्तकों तथा औषधियों को आवश्यकता-ग्रस्त जनों को आप निःशुल्क ही दे देते थे, स्वेच्छा से कोई कुछ दे जाता, तो दे जाता!

आप परम निस्पृह एवं उदासीन हो चले थे तथापि घर-गृहस्थी का योग-क्षेम किसी अदृश्य शक्ति के सहारे ठीक चल रहा था। आप को आर्थिक संकोच में देखकर आपके शिष्य श्री मंगलदेव शास्त्री ने प्रयत्न करके आपको बोर्ड की संस्कृत-परीक्षाओं की उत्तर-पुस्तिकायें परीक्षण करने का कार्य दिलवा दिया। गुरुकुल से ३०) रुपये मासिक लेना तो आपने कभी का छोड़ ही दिया था, इस को भी विद्या-विक्रय ही बताकर

स्वीकार करने से इनकार करने लगे। वड़ी कठिनाई से समझा-बुझाकर आपको इसके लिए तैयार किया गया। उस वर्ष हिन्दू-मुस्लिम दंगों के कारण कालेज-स्कूलों में पढ़ाई वहुत कम हो पाई थी और छात्र वहुत ही कम पढ़ पाये थे। दयालु-स्वभाव उपाध्याय जी ने इस परिस्थिति का विचार करके एक ओर से सभी को पास कर दिया। वाद में आपसे इसका स्पष्टीकरण मांगा गया तो आपने वताया—'दंगों के कारण छात्र पढ़ नहीं पाये थे, अतः उन्हें अनुत्तीर्ण करना वड़ी निर्दयता और अन्याय होता। फिर, मैं परीक्षक था, मैंने जो उचित समझा किया। आपको आपत्ति है तो अगले वर्ष से उत्तर-पुस्तिकायें मेरे पास न भेजिए। मैं न्याय, उदारता एवं करुणा का परित्याग करने में असमर्थ हूँ।'

वड़ा पुत्र रोहित शिक्षित होकर प्रायः विवाह योग्य हो चला था, अतः ग्राम अटाईं से उसके विवाह का प्रस्ताव आया। अपनी पत्नि को अपने से भी वढ़कर निस्पृह, उदासीन एवं परमहंस विचारकर आपने घर की साज-संभाल के लिए रोहिताश्व के विवाह की स्वीकृति दे दी। अन्दरूनी आर्थिक स्थिति कैसी भी रही हो, पर ऊपर से तो ५० वीघा जमीन और समाज में मान-प्रतिष्ठा थी ही। अतः कन्या-पक्ष ने आपसे वांछित दहेज के विषय में स्पष्टीकरण जानना चाहा। आपने कहा—'मैं पुत्र-विक्रय अथवा कन्या-क्रय नहीं कर रहा हूँ, आर्ष विधि से पुत्र-विवाह करने जा रहा हूँ। सुलक्षिणी कन्या एवं सविधि संस्कार के अतिरिक्त मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। मैं भी और कुछ नहीं करूँगा, लड़का आपके सामने है ही। अपनी श्रद्धा से आप अपनी लड़की को कुछ भी दें या न दें, इससे मेरा कोई सम्वन्ध नहीं।' अन्ततः रोहिताश्व का विवाह सम्पन्न हो गया जिसका सारा कार्यभार श्री गङ्गाप्रसाद जी ने संभाला। आप तो आदि से अन्त तक चुपचाप द्रष्टा मात्र वने रहे, कुछ पता नहीं कव, कैसे, क्या हुआ ? किसी ने कुछ

पूछा तो वता दिया अन्यथा एकान्त में—'निश्वास लोपः ………'
की अमनस्क मुद्रा में विराजे रहते।

विवेक-वैराग्यपूर्वक आपने अर्थ के परित्याग से लोभ पर, कामनाओं के परित्याग से क्रोध पर, संकल्पों के परित्याग से काम-विक्षेप पर, तत्व-चिन्तन से भय पर और ब्रह्मविद्या से जन्म-मरण पर विजय प्राप्त कर ली थी तथा दया-क्षमा के द्वारा आधिभौतिक, योग-वल के द्वारा आधिदैविक एवं ध्यान समाधि के द्वारा आध्यात्मिक तापों को निरस्त कर लिया था। महर्षि वसिष्ठ के शब्दों में आपकी स्थिति—'अन्तः शून्यः वहिशून्य शून्य कुम्भ-इवाम्वरे' की भांति अन्तर्वाह्य सर्वत्र सांसारिकता से शून्य तथा 'अन्तः पूर्णः वहिपूर्णः पूर्णकुम्भ इवाम्वुदे' की भाँति अन्दर-वाहर सर्वत्र सच्चिदानन्द आत्मतत्व से आप्लावित थी।

× × × ×

[६]

उच्चस्तरीय साधन की कसौटी है कि साधक को अपने प्रारब्ध-क्षय एवं स्वरूप-ज्ञान के साथ मुक्ती के विश्वासपूर्ण सामीप्य का आभास उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाना चाहिये। मुक्ती के अधिकारी साधक के प्रारब्ध का निःशेष क्षय होते ही उस के शरीर का भी पात हो जाता है, क्योंकि शरीर प्रारब्धों का भोगायतन मात्र है। आत्मदर्शन से संचित एवं क्रियमाण कर्मों का क्षय तो पहिले ही हो चुका होता है, भोग द्वारा प्रारब्ध का क्षय होते ही, स्थित्ति का कोई कारण ही शेष न रहने से शरीर भी शान्त हो जाता है। यही कारण है कि प्रायः अच्छे महात्माओं को पहिले से ही अपना शरीर शान्त होने का समय आदि ज्ञात होता है। आपके साथ भी ऐसा ही हुआ। आपका प्रारब्ध निःशेष हो चला था और शरीर शान्त होने का ज्ञान हो गया था।

गृहस्थ आश्रम आजीवन कर्तव्य-पालन का क्षेत्र है। साधन की आढ़ में कर्तव्य से वचकर भागना ज्ञान-वैराग्य नहीं, कायरता है, जो किसी सिद्धि की साधक नहीं वरन् श्रेय में बाधक है। यही कारण है कि ज्ञानी कभी, किसी भी परिस्थिति में अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होता। वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं, केवल अहङ्कारजन्य ज्ञानाभास मात्र है, जो कर्तव्य से च्युत या विमुख कर दे। कहना चाहिये कि स्व-आश्रमानुकूल निष्काम कर्तव्य-निष्ठा एवं समदृष्टि-व्यवहार-कुशलता ज्ञान-निष्ठा की कसौटी है। आपकी पुत्री वेदवती अभी १२-१३ वर्ष की ही थी और उसके विवाह के लिए २-३ वर्ष की विलम्ब और भी अपेक्षित था, परन्तु प्रारब्ध-निःशेष एवं तज्जन्य शरीर-शान्ति की सूचना आपको मिल चुकी थी। भला आप सरीखा आजीवन कर्तव्यनिष्ठ महापुरुष अन्त समय तक भी कर्तव्य-पालन में तत्पर रहकर ज्ञानियों के आदर्श आचरण को उज्ज्वल कैसे न करता? स्वावलम्वी, स्वात्माभिमानी कभी किसी पर अपना भार नहीं डालता। आप अपने पुत्रों पर अपना कोई भी भार नहीं छोड़ना चाहते थे, अतः शरीर शान्त होने के पूर्व ही कन्या का विवाह कर जाने का निश्चय कर लिया।

कन्या का विवाह वर्तमान हिन्दूसमाज में एक समस्या है जिसे हर भुक्तभोगी पिता भली भांति जानता है। सुयोग्य वर की तलाश, दहेज का प्रबन्ध, शादी का व्यय-भार और उस पर भी वर-पक्ष के नाज-नखरे, समाज की आलोचनाओं के अतिरिक्त और भी न जाने किस समय क्या अप्रत्याशित कठिनाई आ जाय! ये सभी कुछ पिता को विवाह-व्यवस्था की भट्टी में तपाये रहते हैं। फिर आप सरीखे निर्धन, उदासीन के लिए तो और भी अधिक समस्यायें खड़ी होती हैं। परन्तु जिन महाभागों की दृष्टि में 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' पैठ गया हो, उनके मार्ग के सभी शूल फूल वन जाते हैं, बाधायें अनुकूल वन जाती हैं एवं कठिनाइयां पलायन कर जाती हैं। यही आपके साथ भी हुआ।

भक्ति-सिद्ध भगवान् के किसी एक विग्रह विशेष का ही सर्वत्र, सब रूपों में दर्शन करते हैं, इसे सगुण (साकार) निष्ठा कहा जाता है। इस निष्ठा में संसार के समस्त नाम-रूपों का अपने इष्ट भगवद्विग्रह में ही तिरोधान होता है। ऐसे भक्ति-सिद्ध की पुकार पर भगवान् उसी विग्रह-विशेष में प्रकट होकर उस भक्त के योग-क्षेम का निर्वाह करते हैं। ज्ञान-सिद्ध महापुरुष सर्वत्र आत्मतत्व का दर्शन करते हैं जिसे निराकार निष्ठा कहा जा सकता है। इसमें ज्ञानी की दृष्टि ब्रह्माण्ड के समस्त नाम-रूपों का अतिक्रमण कर सर्वत्र सम व्याप्त सच्चिदानन्द के ही दर्शन करती रहती है। सर्वरूपभूत ऐसे ज्ञानी सिद्ध कभी पुकार नहीं करते, भगवान् को स्वयं ही उनका ध्यान रखना पड़ता है। विश्व के सभी नाम-रूपों में उर-प्रेरक तो वे ही हैं, अतः ज्ञानी के योग-क्षेम के निर्वाह के लिए विश्व के किसी एक या अनेक नाम-रूपों को प्रेरित कर देते हैं। आपकी ज्ञान-निष्ठा के कारण विवाह के योग-क्षेम-निर्वाह के लिए भगवान् 'अनेकरूपरूपाय' होकर आये।

एक शिष्य ने निवेदन किया—'महाराज ! आज्ञा हो तो सब गुरु-भाइयों को सूचित कर दें। उनमें से कई धनिक हैं। थोड़ी-थोड़ी सेवा भी करेंगे तो विवाह बड़ी आसानी से हो जायेगा !' आपने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया—'नहीं, हमें अपने कर्तव्य का भार दूसरों पर नहीं डालना चाहिए। जो जितना धनी है, वह उतना ही व्ययभार से दबा हुआ और आवश्यकताओं से संत्रस्त भी है। इन से अछूते धनी तो केवल एक भगवान् ही हैं। वे ही हमें अपने कर्तव्य-पालन की क्षमता प्रदान करें।' आपकी निर्लोभ भगवन्निष्ठा एवं कर्तव्यपरायणता आज अनेकों धनलिप्सु कर्तव्यभ्रष्ट प्रमादी गुरुओं के लिए प्रकाश-स्तम्भ थी।

आपकी दृढ़ निष्ठा के अनुसार विवाह-कार्य इतने घोर अभाव एवं विषम-परिस्थितियों में भी इतने उत्कृष्ट एवं सुचारु रूप में सम्पन्न हुआ कि सर्वविधि अभाव पूर्णभाव में बदल गये, समस्त बाधायें स्वयं

वाधित हो गईं एवं समस्त निराशायें स्वयं निराश होकर रह गईं मानो हरि-हर के निरीक्षण में गुप्तवंश में कुवेर-अन्नपूर्णा स्वयं कार्य-भार संभाल रहे हों। लोग आश्चर्यचकित रह गये कि यह सब कैसे, किसने, किस प्रकार और कब कर डाला ? घोर भौतिकता के पाण्डुरोग से ग्रस्त संसारियों की दृष्टि ज्ञानी के संकल्प की अप्रतिहत गति को कैसे देख-पहिचान पाती ? विवाहोपरान्त इतनी सामग्री वच पड़ी कि एक विवाह और किया जा सकता था। आपने कन्या के निमित्त भगवद्-प्रदत्त समस्त अवशिष्ट धन-सामग्री विदा के समय वर-पक्ष को सौंप दी।

× × × ×

[१०]

सृष्टि के व्यतिक्रमों को लक्ष्य करके कभी-कभी कुछ लोग प्रहसन में कहते सुने जाते हैं—'सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा बुड्ढे हो चले हैं, अब उनसे अपना काम सुचारु रूप से ठीक-ठीक करते-धरते नहीं वनता।' यदि इस प्रहसनोक्ति के मूल तत्व का विवेचन किया जाय तो इसका तथ्य-स्वरूप आसानी से हृदयंगम किया जा सकेगा।

समष्टि वुद्धि, महत्, हिरण्यगर्भ तथा ब्रह्मा शब्द एकार्थी हैं। सागर से जलविन्दुवत्, समष्टि वुद्धि से ही व्यष्टि वुद्धि प्रादुर्भूत होती है। व्यष्टि वुद्धियों की सामूहिक एवं सर्वत्रव्यापी विकृति स्वयं समष्टि वुद्धि (ब्रह्मा) में विकृति की द्योतक है जिसे व्यंग्योक्ति में 'ब्रह्मा का वुढ़ापा' भी कहा जा सकता है। विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त वुद्धि-विपर्यय एवं मलीनता से यह समझना अनुचित नहीं है कि यह दोष समष्टि वुद्धि में व्याप्त हो चुके हैं और विषैली जल-राशि से उपलब्ध विषैले जलविन्दु के समान व्यष्टि वुद्धि में भी अनायास ही आ जाते हैं। यही कारण है कि दोषों के परिमार्जन एवं सद्गुणों के प्रचार-प्रसार के लिए किये जा रहे सभी प्रयत्न केवल निष्फल ही नहीं, विपर्यय परिणामी भी होते जा रहे हैं। इसी को काल-प्रवाह भी कहते हैं।

आत्मविद्या का विश्वगुरु धर्मप्राण भारत इसी काल के प्रवाह से स्वयं ही दिग्भ्रांत हो चला है। फलत: प्राय: माना जाने लगा है कि योगसाधन, आत्म-चिन्तन एवं मुक्ति के लिए घर-बार छोड़कर, अविवाहित रहकर जंगलों में भटकना आवश्यक है।

अपनी आर्ष-प्रणालियों एवं आप्त उपदेशों को तिलाञ्जलि देकर भारत के आध्यात्मिक अगुआ माया के विकारों के शिकार बनते चले जा रहे हैं। पूर्वज ऋषियों ने जन्म-जन्मान्तरों की साधना एवं निरीक्षण-परीक्षणों के पश्चात् लोक-कल्याण की भावना से जिन अनुभूत थातियों को भावी पीढ़ियों के लिए संजोया था, आज के तथाकथित योगीराज, गीताव्यास, महामण्डलेश्वर, परमहँस, ब्रह्मनिष्ठ और न जाने क्या-क्या उपाधि-व्याधिग्रस्त स्वत:सिद्ध अनधिकारी उनमें अनायास मनमाना परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन अथवा प्रवर्तन कर डालते हैं। परिणामत: आज की नकली आध्यात्मिकता देश का अभिशाप, गुरुता का कलंक और सच्ची एकांतिक साधना का इतिहास मात्र बनती जा रही है।

आध्यात्मिक साधन के हर स्तर पर पूर्वजन्मार्जित भूमिका तथा संस्कार अपना विशेष महत्व रखते हैं। हर व्यक्ति शंकराचार्य नहीं हो सकता। गृहस्थ में रहकर ही साधन करने का अधिकारी यदि साधन के नाम पर गृह-त्याग कर भागेगा तो स्वयं तो पतित होगा ही, आध्यात्मिक परम्परा में भी आश्रम-शंकरता को प्रश्रय देकर उसे भ्रष्ट एवं कलंकित करेगा तथा न जाने कितनों को स्वयं सरीखा बनाने की अनधिकार कुचेष्टा करेगा और विनाशकारी भ्रांत प्रेरणा देगा। ऐसे उभयभ्रष्ट नामधारी महात्माओं का बाहुल्य होना और रोक-थाम करने पर भी नित्य नये अधिकाधिक बढ़ते ही जाना अलंकारिक भाषा में सृष्टि-रचयिता का वृद्धावस्थावश सठियाना नहीं तो और क्या है?

देश, वेश या केश के परिवर्तन आत्म-कल्याण की साधना में सहायक कम और आडम्बर, पाखण्ड के प्रोत्साहक अधिक हैं। श्री

उपाध्याय जी इस तथ्य को भली भांति समझते थे। साधन के समस्त प्रचलित आडम्बरों से वचकर आपने गृहस्थ आश्रम में ही अपने समस्त कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए, गुप्त रूप से श्रेय का श्रेष्ठतम साधन किया। यदि ग्रह-त्याग के उपयुक्त मुमुक्षुत्व, त्याग, वैराग्य आदि संस्कार न हों तो गृहस्थ आश्रम ही साधन के लिए सर्वोपरि आश्रम है। त्यागी-वैरागी या यती-ब्रह्मचारी वनकर भी गृहस्थियों जैसे ही कार्य-कलापों, माया-ममता में फसे रहना और धर्म-वृषभ वन-कर देश एवं समाज पर भार वनना अध्यात्म साधन नहीं, आश्रम-शंकर दोष को वढ़ावा देने वाला कलंक तथा आत्मा को और भी पतित करने का उपक्रम मात्र है। ऐसे दिग्भ्रान्त साधकों के लिए श्री उपाध्याय जी का जीवन ज्वलन्त उदाहरण, पथ-प्रदर्शक एवं प्रेरणास्रोत है। उनका गृहस्थाश्रम भोगों में रहकर ही भोग-त्याग की निर्भय प्रक्रिया मात्र था।

हमारे अध्यात्म-अगुआ, संन्यासी एवं परिव्राजक येन-केन-प्रकारेण चेले मूंडकर, आश्रम-शकर प्रमादी, आलसियों की सेना खड़ी करके, समाज एवं राष्ट्र पर भार वढ़ाना छोड़ दें और स्वार्थ एवं ख्याति-अर्जन के लिए पाखण्ड-आडम्बर छोड़कर श्री उपाध्याय जी के उदाहरण को सामने रक्खें तो अध्यात्म संपुटित आश्रमोचित कर्तव्यनिष्ठा व्यष्टि वुद्धियों का परिमार्जन अवश्य ही करेगी। वूढ़े-ब्रह्मा के रचयिता तो पता नहीं कव उनकी सठियाई हुई वुद्धि का परिमार्जन करेंगे,—वे ही जानें,—पर वूंद-वूंद से घड़ा और घड़े से जलाशय की भांति व्यष्टि वुद्धि के परिमार्जन से भी उसमें अभीष्ट परिवर्तन ले आना संभव है। 'आत्म-साधना प्रदर्शन की नहीं, आचरण की वस्तु है और एकांतिक आचरण से ही फलदाई होती है',—श्री उपाध्याय जी का जीवन इसी तथ्य का मूर्तिमान् उदाहरण है। उनके जैसे जीवन और आचरण का वाहुल्य ब्रह्मा की सठियाई वुद्धि का परिमार्जन करने में सक्षम हैं

⌘ ⌘ ⌘ ⌘

[११]

आपका अन्तिम प्रारब्ध-भोग आ पहुँचा था जिसके बाद आप को इहलोक-लीला संवरण कर शिव-लोकप्रयाण करना था। शक्तिपात दीक्षा लेने के ठीक १८ वर्ष बाद, सन् १९५२ के प्रारम्भ में, वही महीना तथा वही ऋतु आ पहुंची थी जिसमें आपने श्री गुरुदेव के चरणों में उपस्थित होकर वेधदीक्षा ग्रहण की थी। आप अस्वस्थ हो गये। अस्वस्थ कहना तो भौतिक दृष्टि से औपचारिक मात्र है। भला सदा स्वस्थ को अस्वस्थता कैसी ? श्रीविग्रह ज्वरग्रस्त नहीं, कोई रोग-उपसर्ग या लक्षण नहीं, पीड़ा या वेदना नहीं, फिर अस्वस्थता कैसी ? भवरोग से शाश्वत मुक्ति पाने का अन्तिम चरण होने के कारण उसे अस्वस्थता के बजाय प्रारब्ध का निःशेषीकरण कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

प्रारब्ध-भोग का समय तो बिताना ही था, अतः कुटुम्बी एवं परिचितों को अपने महाप्रयाण के आभास से बचाने के लिए औषध-सेवन चलता रहा, पर बड़े ही निरासक्त एवं उदासीन भाव से ! स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, परिवार आदि किसी के भी प्रति आपका कोई लगाव शेष नहीं रह गया था, शरीर के प्रति भी कोई आसक्ति शेष नहीं थी। आपकी दृष्टि में शरीर अब एक ऐसा प्रारब्ध-भोग का यन्त्र मात्र था जिसे यह अन्तिम भोग भोगने के बाद बेकार हो जाना था और जिसे जीर्ण वस्त्र के समान कभी भी छोड़ा जा सकता था। उत्तर भारत के देहातों में एक कहावत प्रचलित है,—'बातें न बना, मरना सीख, मरना !' कहावत बड़ी सीधी-सादी-सी है, पर वास्तव में 'मरना सीखना' एक ऐसी कला है जिसके जाने बिना और सब कुछ जान लेना भी व्यर्थ है, जिसके जाने बिना मावन-जीवन निष्फल है, जिसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, - कुछ भी जानने को शेष

नहीं रहता तथा जिसको सीख लेने पर जन्म-मृत्यु से छुटकारा होकर शाश्वत मुक्ति प्राप्त होती है। यों तो संसार मे लाखों ही मनुष्य प्रतिदिन मरते हैं, पर ऐसा मरना तो किसी बड़भागी सिद्ध को ही आता है जो अमर बना दे और जिसके बाद फिर कभी मरना ही न पड़े। नचिकेता मृत्यु का वरण तथा समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के वैभव का परित्याग करके भी बदले में मरना सीखकर ही तो आया था जिसके प्रताप से वह अमर हो गया।

'अन्त मति सो गती' कहावत नित्यंप्रति सुनी एवं समझी जाती है, परन्तु जो मरना नहीं जानते वे जीवन भर इसका अनुशीलन करके भी अन्त समय में इसके सदुपयोग से चूक ही जाते हैं। तभी तो जड़भरत जैसे उपराम महामुनि को भी हिरण-वत्स बनकर पुनर्जन्म लेना पड़ा। श्री उपाध्याय जी ऐसा मरना तो सीख ही चुके थे जो अमर बना दे, पर अन्त की चूक के प्रति भी पूर्णतया सावधान थे, अतः प्रायः ध्यानस्थ एवं लक्ष्य में ही तन्मय रहते थे। कौन जाने, वे कहां स्थित रहते थे, पर औषधोपचार की कोई आग्रहपूर्ण अस्वीकृति नहीं थी क्योंकि वह परिचित स्वजनों को अरिष्ट, अनिष्ट का आभास दे जाती है।

एक दिन आपने कहा—'अब जाना है, जरा पत्रा निकालकर देखिये, स्पष्ट उत्तरायण हो गया है या नहीं ?' पत्रा निकालकर देखा तो शुद्ध उत्तरायण होने में अभी २-४ दिन शेष थे। 'दक्षिणायन के संस्पर्श में जाना ठीक नहीं, शुद्ध उत्तारायण होने तक रुकना चाहिये'—कहते हुए अभी शरीर त्यागने का विचार त्यागकर आप ध्यानस्थ हो गये। आपका यह विचार या तो कर्मकाण्ड के संस्कारों से अथवा गीता के इस विषय-सम्बन्धी एक श्लोक मे प्रेरित था। समर्थ पुरुष के लिए प्रारब्ध निःशेष होने पर भी इच्छा-मृत्यु कोई बड़ी बात नहीं है। मृत्यु शिव-सायुज्य के अधिकारियों की चेरी जो बन जाती है। आपने भी

शुद्ध उत्तरायण होने तक मृत्यु को दूर रहकर प्रतीक्षा करने का आदेश दे दिया।

३-४ दिन बाद आपने फिर कहा—'शुद्ध उत्तरायण हो चुका है। अब जाना है। यदि संभव हो तो गङ्गा तट पर ले चलो, वहीं शरीर-त्याग करेंगे।' अचानक एवं अन्त समय में आपकी यह इच्छा जानकर सभी व्याकुल हो उठे। जर्जर शरीर, कोसों दूर गङ्गा तट जहां तक जाने के लिए यातायात की सहज-सुविधा नहीं और आपकी इच्छा—तीनों ओर असमंजस से घिरे स्वजनों ने तात्कालिक स्थानीय प्रयत्न तो किया, पर आपको छोड़ने के लिए कोई भी तैयार नहीं था, अतः कोई प्रबन्ध नहीं हो पा रहा था। आप दयालु एवं आग्रहरहित तो थे ही, परिचारकों की परेशानी को समझते हुए बोले—'कोई प्रबन्ध नहीं हो पा रहा तो न सही, हम स्वयं ही मां गङ्गा की गोद में चले जाते हैं, बाद में आप कर सकें तो गंगा-तट पर शरीर-दाह कर देना।'

अन्ततः निष्ठुर रुद्रगण शिव-यान लेकर आपको शिवलोक ले जाने के लिए आ ही पहुँचे। आज सन् १९५२, संवत् २००८ के पौष मास की पूर्णिमा की रात्रि थी। हितैषी परिचारकों ने कृष्ण-सायुज्य प्राप्त आप को गीता सुनाने की धृष्टता का आयोजन किया। किंचित् नेत्र उन्मीलन कर आपने सस्मित भाव से कहा—'बेचारे पाठकों को क्यों कष्ट दे रहे हो, रात्रि में इन्हें विश्राम करने दो।' स्वर्ग को ही उत्कर्ष की चरम सीमा मानने वाले किसी परिचित ने शरीर-त्याग के पश्चात् आपके स्वर्ग जाने का विश्वास प्रकट किया तो आप बोले—'स्वर्ग-नरक अज्ञानी मूर्खों की कल्पनायें हैं, हमें स्वर्ग से क्या प्रयोजन ?' समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के यावतीव भोगैश्वर्य को ज्ञानाग्नि में भस्मसात् कर देने वाले ब्रह्मीभूत की दृष्टि में स्वर्ग का महत्व विष्ठा से अधिक क्या होता ?

आप शान्त ध्यानस्थ लेटे रहे । ठीक उसी समय जिस समय १८ वर्ष पूर्व शक्ति-जागरण के फलस्वरूप वेगपूर्ण झटके लगे थे, प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में आपको चिरशान्ति का एक प्रबल आवेग-सा आया और आप सदा-सर्वदा के लिए—

'विश्रान्तिमासाद्य तुरीय-तल्पे,
विश्वाद्यवस्थात्रितयोपरस्थे ।
सविन्मयीं कामपिसर्वकालं,
निद्रां सखे निर्विश निर्विकल्पाम् ॥

के मूर्तिमान् अमूर्त अनुगामी हो गये । प्रातः ४ बजे के पूर्व ही शिष्य-चकोरों के गुरु-चन्द्र को शिवसायुज्य-ग्रहण ग्रस चुका था ।

आपकी इच्छानुसार आपके पार्थिव शरीर को अनूपशहर में गंगा-तट पर ले जाया गया और सविधि दाह-संस्कार, अस्थि-प्रवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि की लोक-मर्यादाओं का निर्वाह किया गया ।

ब्रह्मलीन श्री उपाध्याय जी जैसी महान् विभूतियों की चरण-रज श्रेय-साधकों के अन्तःकरण पवित्र कर शिव-सायुज्य का पथ-प्रशस्त करे ।

इति पुनन्तु मां श्रीसद्गुरु चरणरेणवः ।